त्रिस्तुतिक मत समीक्षा

प्रश्नोत्तरी

– मु. संयमकीर्ति वि. म.

प्रकाशक

नरेशभाई नवसारीवाले

त्रिस्तुतिक मत समीक्षा प्रश्नोत्तरी

• लेखक •

परम शासन प्रभावक पूज्यपाद आचार्यदेवेश
श्रीमद् विजय **रामचंद्रसूरीश्वरजी** महाराजा के
प्रशिष्यरत्न पूज्य मुनिराज श्री **दिव्यकीर्तिविजयजी**
गणीवर्यश्रीके शिष्यरत्न पूज्य मुनिराज श्री
पुण्यकीर्तिविजयजी गणीवर्यश्रीके शिष्य
मुनिराज श्री संयमकीर्तिविजयजी म.सा.

• प्रकाशक •

नरेशभाई नवसारीवाले

पुस्तक का नाम : त्रिस्तुतिक मत समीक्षा (प्रश्नोत्तरी)
लेखक : मु. संयमकीर्तिविजयजी म.सा.
हिन्दी अनुवादक : श्री विनित दुबे
प्रकाशक : नरेशभाई नवसारीवाले
आवृत्ति : प्रथम
नकल : १०००

JAIN PRAKASHAN MANDIR ाप्ति
309/4, Khatri ni Khadki, Doshiwada ni Pole
Ahmedabad- 380001 (M) 94267 58532
©(S) 25356806 (O) 25356197 (R) 26639275

१. नरेशभाई नवसारीवाले
डी.अेन.आर, ३०४, श्रीजी दर्शन, बील्डींग-बी,
स्वदेशी मील एस्टेट कम्पाउन्ड, टाटा रोड नं-२,
ऐम.पी.मार्ग, ओपेरा हाउस, मुंबई-०४

२. बीजल गांधी
३, नीलकंठ बंगलो, आगम फ्लेटके पास,
सुविधा शोपींग सेन्टरके पीछे,
पालडी, अमदावाद-०७.

३. विपुल डायमंड
२०५-२०६, आनंद, बीजे माळे,
जदाखडी, महीधरपुरा, सुरत-३९५००३.

४. राजेन्द्रभाई जगावत
मकान नं.-६, चौमुखी पुल, प्लाउ के पास,
रतलाम, मध्यप्रदेश.

प्रकाशनना अवसरे...

ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः ।

सम्यग्ज्ञान अने सम्यक्क्रियाथी मोक्ष प्राप्ति थाय छे. ऐकलुं ज्ञान के एकली क्रिया मोक्ष आपी शकता नथी. ज्ञान क्रियाने झंखे छे. क्रिया ज्ञाननुं सामीप्य ईच्छे छे. ज्ञान मार्ग बतावे छे. क्रिया मार्ग उपर चलावे छे अने ईष्ट स्थाने पहोंचाडे छे. आम ज्ञान अने क्रिया बंने साथे मळीने ईष्ट ऐवा 'मोक्ष' रुप फळने आपे छे.

अनादिकाळथी आपणा आत्मामां अज्ञाननो अंधकार छवायेलो रह्यो छे. ते कारणथी ज आपणुं अविरतपणे संसार परिभ्रमण चाले छे. आत्मा उपर छवायेला अज्ञानना अंधकारनो नाश करी सम्यक् प्रकाश पाथरवानुं कार्य सम्यग् ज्ञान करे छे.

ज्ञान प्राप्तव्य (प्राप्त करवा योग्य) अने अप्राप्तव्य (प्राप्त नहि करवा योग्य), कर्त्तव्य अने अकर्त्तव्य तथा हेयोपादेयनो विवेक आपे छे. विधि-निषेधने जणावे छे. मोक्षमार्गना साधक अने बाधक तत्त्वोने जणावे छे. आत्मा माटेना सुरक्षित स्थानोने बतावे छे अने साथे भयस्थानोने पण बतावे छे.

आथी मोक्षमार्गमां ज्ञाननी अत्यंत आवश्यकता छे. श्रीठाणांग सूत्रनी टीकामां ज्ञानप्राप्ति अने ज्ञानवृद्धिना सात उपायो बताव्या छे. १. सूत्र, २. निर्युक्ति, ३. भाष्य, ४. चूर्णि, ५. वृत्ति (टीका), ६. परंपरा अने ७. अनुभव.

सूत्र, निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि अने वृत्ति आ पांचने पंचांगी कहेवाय छे. पंचांगी ज्ञानप्राप्ति अने ज्ञानवृद्धिनुं परम कारण छे. जेम पंचांगी ज्ञानप्राप्ति अने ज्ञानवृद्धिनुं कारण छे तेम सुविहित महापुरुषोनी अविच्छिन्न परंपरा पण ज्ञानप्राप्ति अने ज्ञानवृद्धिनुं कारण छे. ते ज रीते 'अनुभव' पण ज्ञानप्राप्ति अने ज्ञानवृद्धिनुं कारण छे.

श्रीठाणांगसूत्रनी जेम जरा जुदी रीते उत्तम तत्त्वने पामवाना त्रण उपायो

बतावतां १४४४ ग्रंथना रचयिता पू.आ.भ.श्री हरिभद्रसूरिजीए योगद्रष्टि समुच्चय ग्रंथमां कह्युं छे के,

आगमेनानुमानेन योगाभ्याससरसेन च ।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते तत्त्वमुत्तमम् ॥१०१॥

भावार्थ : १. आगमथी, २. अनुमान (युक्ति)थी अने ३. योगाभ्यासना रसथी ऐम त्रण प्रकारे प्रज्ञाने प्रयोजतां पुरुष उत्तम तत्त्वने पामे छे.

आ प्रमाणे श्रीठाणांगसूत्रना कथनानुसार परंपरा पण ज्ञानप्राप्तिनुं कारण छे. विधि-निषेधने जणावनार छे. **अहीं ज्ञान प्राप्तिना कारण तरीके परंपरा बतावी छे ते, गमे ते परंपरानी वात नथी. परंतु अशठ, भवभीरु, संविग्न, गीतार्थ सुविहित महापुरुषोथी चाली आवती शास्त्रसापेक्ष सुविहित परंपराने ग्रहण करवानी छे.**

आम सुविहित परंपरा पण ज्ञानप्राप्ति-ज्ञानवृद्धिनुं कारण छे.

असत्क्रियाओ (पापक्रियाओ) अज्ञानना पाया उपर उभी छे. अज्ञानना योगे ज मजेथी असत्क्रियाओ चाले छे. रसपूर्वक करेली असत्क्रियाओथी असत्संस्कारो पडे छे. निमित्त मळतां ते असत्संस्कारोनो उदय थाय छे. तेना योगे पापनी इच्छाओ थाय छे. इच्छापूर्ति माटे पुनः असत्क्रियाओ थाय छे. तेनाथी पुनः असत्संस्कारो, तेनो उदय, उदयना योगे इच्छाओ अने तेने पूरी करवा असत्प्रवृत्तिओ चाल्या ज करे छे. अनादिकाळथी आपणा आत्मामां आ विषचक्र चाली रह्युं छे.

आ चाली रहेली विषमय घटमाळामां महत्तम फाळो अज्ञानना पाया उपर उभी रहेली असत्क्रियाओनो छे. ज्ञान अज्ञाननो नाश करी अज्ञानना पाया उपर चालती असत्क्रियाओने खतम करे छे अने जीवनमां धर्मक्रियाओनो प्रारंभ थाय छे.

आथी ज परमात्माओ ज्ञान अने क्रिया ऐम उभयरुपे मोक्षमार्ग बताव्यो छे.

संप्राप्त ज्ञानथी प्राप्तव्य-अप्राप्तव्यनुं भान जीवंत रहेशे. तेना योगे कर्त्तव्य-

अकर्त्तव्यनो विवेक पण जीवतो ने जागतो रहेशे. तेना योगे ज आत्मा कर्त्तव्यमां जोडाशे अने अकर्त्तव्यनी निवृत्ति करवा तत्पर बनशे.

प्राप्तव्य-अप्राप्तव्यना बोधपूर्वक कर्त्तव्यमां प्रवृत्ति अने अकर्त्तव्यनी निवृत्ति करवाथी पापक्रियाओनी निवृत्ति तो थाय ज छे. साथे साथे पापक्रियाओ द्वारा आत्मा उपर जे नवा कुसंस्कारो पडता हता, ते कुसंस्कारो पापक्रियाओ बंध थवाथी अने धर्मक्रियाओनुं आदरपूर्वक सेवन करवाथी नाश पामता जाय छे. पूर्वोक्त विषचक्र उपर घा पडे छे. विषचक्र नबळुं पडतुं जाय छे. बीजी बाजुं ज्ञानपूर्वकनी सत्क्रियाओ (धर्मक्रियाओ) द्वारा आत्मामां सुसंस्कारोनुं सिंचन थाय छे. क्रमशः सुसंस्कारोनुं बळ वधतुं जाय छे. तेना योगे हंमेशा आत्मा मोक्षमार्गनी अभिमुख रहे छे. संसारथी विमुख बनी जाय छे.

ज्ञान हितकारी-अहितकारी तत्त्वोनी माहिती आपे छे. बोध ते माहितीनो सदुपयोग करावे छे. धर्मक्रिया बोधने सफळ बनावे छे.

मात्र ज्ञानथी मोक्ष प्राप्त थतो नथी. कारण के, ज्ञान मात्र मार्ग बतावे छे. चाल्या विना मात्र मार्ग जाणी लेवाथी ईष्ट स्थाने पहोंची शकातुं नथी. जेम भोगोनुं ज्ञान होवा मात्रथी तृप्ति थई जती नथी, तेम ज्ञात मार्ग उपर चालीए नहि तो विवक्षित स्थाने पहोंची शकातुं नथी. आथी मोक्ष मार्गमां क्रियानी पण ज्ञान जेटली ज आवश्यकता छे.

ज्ञाने बतावेला सारा स्थाने पहोंचवा माटे प्रवृत्तिरुप क्रिया करवी पडे. ज्ञाने बतावेला भयस्थानोथी बचवा माटे निवृत्तिरुप क्रिया पण करवी पडे.

जैनशासनमां आत्मशुद्धि, रत्नत्रयीनी प्राप्ति अने रत्नत्रयीनी निर्मलता-पूर्णता माटे चैत्यवंदन, देववंदन, प्रतिक्रमण, पडिलेहण आदि धर्मक्रियाओ बतावी छे.

तेमां चैत्यवंदन दरेक भूमिकाना साधको माटे भावोल्लासनुं परम कारण छे. प्राथमिक कक्षाना साधकथी मांडीने उच्च कक्षाना योगीओ माटे चैत्यवंदन परम

योग छे. परमात्मा साथे तादात्म्य साधवा माटे भावक्रियारुप चैत्यवंदन परम आलंबन छे.

आथी ज सुप्रसिद्ध शास्त्रकार परमर्षि पू.आ.भ.श्री हरिभद्रसूरिजीए ललितविस्तरा ग्रंथमां चैत्यवंदनने उत्तम कोटीनुं कर्त्तव्य जणाव्युं छे.

तथा च तत्पाठः ॥ .... न चातः परं कृत्यमस्तीत्यनेनात्मानं कृतार्थमभिमन्यमानो भुवनगुरौ, विनिवेशितनयनमानसोऽतिचारभीरुतया सम्यगस्खलितादिगुणसम्पदुपेतं तदर्थानुस्मरणगर्भमेवं प्रणिपातदण्डक सूत्रं पठति; तच्चेदम्-नमोऽत्थुणं अरहंताणमित्यादि।

"आ चैत्यवंदन (देववंदन)थी अधिक कोई उत्तम कर्त्तव्य नथी." आवा उत्तम कर्त्तव्यरुप चैत्यवंदननी (देववंदननी) प्राप्ति द्वारा पोताना आत्माने कृतार्थ मानतो (साधक) त्रिभुवन गुरु अरिहंत परमात्मामां चक्षु अने मनने स्थिर करतो अतिचारना भयथी (अतिचार न लागी जाय, तेवा भयथी) सम्यग् अस्खलित आदि गुणसंपदाथी युक्त (अर्थात् सूत्र उच्चारण अस्खलित, अमीलित (अक्षरो एकबीजामां भळी न जवा), अहीनाक्षर, अनत्यक्षर आदि गुणसंपदाथी युक्त) सूत्रना अर्थना स्मरणपूर्वक प्रणिपातदंडक सूत्रने बोले छे. जेम के, 'नमुत्थुणं अरिहताणं' ईत्यादि.

वळी कोई पण धर्मक्रिया विधिपूर्वक आत्मसन्मुख बनीने, हीनगुणवाला प्रत्ये द्वेषाभाव केळवीने ईर्ष्यादि दुर्भावोने दूर करीने मोक्षप्राप्तिना उद्देशने जीवंत राखीने करवानी छे.

धर्मक्रियाओमां विधिनुं घणुं महत्त्व छे. जेम विधिपूर्वक आराधायेलो मंत्र के विद्या ज ईष्ट प्राप्तिनुं कारण बनतुं होय छे, तेम विधिपूर्वक आराधायेली धर्मक्रिया ज आत्मशुद्धिनुं कारण बने छे. अन्यथा नहि.

वर्तमानमां धर्मक्रियाओनी केटलीक विधिओ विधिदर्शक ग्रंथोमांथी जाणवा मळे छे. तो केटलीक विधिओ संविग्नोनी आचरणाथी जाणवा मळे छे.

वादीवेताल पू.आ.भ.श्री शांतिसूरि महाराजाए स्वरचित चैत्यवंदन महाभाष्यमां (चैत्यवंदनना विषयमां) उपरोक्त वात करी छे. उपलक्षणथी ते सर्व धर्मक्रियाओ माटे संगत थाय छे.

तीसे करणविहाणं, नज्जइ सुत्ताणुसारओ किं पि ।
संविग्गायरणाओ, किंची उभयं पि तं भणिमो ॥१५॥

–चैत्यवंदन करवानो कोईक विधि सूत्रानुसारे जाणवामां आवे छे. अने कोईक विधि संविग्न महापुरुषोनी आचरणाना अनुसारे जाणवामां आवे छे. (आथी) अमे अहीं बंनेना अनुसारे चैत्यवंदननी विधि कहीऐ छीऐ.

आ प्रमाणे संविग्नोनी आचरणा पण प्रमाणभूत छे. श्रीसंघाचार वृत्तिमां पू.आ.भ.श्री धर्मघोषसूरिजी म. लखे छे के, ललितविस्तरा सिवाय अन्य कोई पण ग्रंथमां चैत्यवंदननी क्रमथी विधि जोवा मणती नथी.

आ पाठथी ऐ पण सिद्ध थाय छे के, जे जे ग्रंथोमां चैत्यवंदनानी विधि लखी छे, ते ललितविस्तरा ग्रंथना अनुसारे ज लखी छे.

ललित विस्तरा ग्रंथमां चैत्यवंदनमां चतुर्थ स्तुति (वैयावृत्त्य करनारा, शांति करनारा, सम्यग्दृष्टि अने समाधि आपनारा देवताओना स्मरण माटे कराती चतुर्थ स्तुति) ग्रहण करेल छे. आ सिवाय अन्य ग्रंथोमां पण चार थोयथी चैत्यवंदनानी विधि बतावी छे.

योगशास्त्र आदि अनेक ग्रंथोमां प्रतिक्रमणनी आद्यंतनी (देवसि प्रतिक्रमणनी प्रारंभनी अने राई प्रतिक्रमणनी अंतनी) चैत्यवंदना चार थोयथी ज करवानी विधि बतावी छे.

देवसि प्रतिक्रमणमां श्रुतदेवता–क्षेत्रदेवताना कायोत्सर्ग करवानी अने तेनी थोय बोलवानी विधि पण बतावी छे.

वंदित्तासूत्र ५० गाथात्मक छे. 'श्राद्ध प्रतिक्रमण सूत्र' ग्रंथनी 'वृंदारुवृत्ति' अने 'अर्थदीपिका' आ बंने टीकाओमां वंदित्तासूत्रने ५० गाथात्मक ज जणावेल

छे. तथा ४७मी गाथामां सम्यग्दृष्टि देवताओ पासे समाधि-बोधीनी मांगणी कराई छे.

निशीथ सूत्र जणावे छे के, प्रत्येक धर्मक्रिया 'इरियावही' कर्या बाद करवामां आवे तो ज शुद्ध बने छे.

'पाक्षिक सूत्र' ना अंते बोलाती 'सुयदेवया भगवई' स्तुतिमां सूचित 'श्रुतदेवता' पदथी श्रुतदेवी ज ग्रहण करवानी छे. एवुं टीकाकारो स्पष्ट फरमावे छे.

टूंकमां सम्यग्दृष्टि देवताओ पासे समाधि-बोधी आदिनी मांगणी करवामां लेशमात्र दोष नथी, एम अनेक ग्रंथो अने सुविहित परंपरा स्पष्ट पणे जणावे छे. छतां छेल्ला केटलांक वर्षोथी चालुं थयेलो त्रिस्तुतिक मत तेनो विरोध करे छे अने पोताना मतनी सिद्धि माटे अनेक असत्य युक्ति-प्रयुक्ति पण आपे छे. अने शास्त्रपाठोना अर्थघटन खोटा करे छे.

सवंत ११५० थी संवत १२५० वच्चेना विषम काळमां वीरप्रभुनी पाटपरंपराथी जे विशुद्ध क्रियामार्ग चाल्यो आवतो हतो, तेनी सामे घणा पडकारो उभा थया.

संवत ११५९मां पूनमियो गच्छ प्रवर्त्यो. संवत १२०४मां 'खरतर' मत प्रवर्त्यो. १२१४मां अंचलगच्छ निकल्यो. १२३६मां सार्द्धपूर्णिम गच्छ चालुं थयो अने संवत १२५०मां त्रिस्तुतिक = त्रण थोय माननारो मत प्रगट्यो.

आ तमाम मतो स्व-स्व मान्यताना आग्रहमांथी प्रवर्तेला छे. पोताना मिथ्या आग्रहना कारणे शास्त्र अने शास्त्रमान्य परंपराथी अलग थयेला छे. तेमांना केटलाक मतो चाल्या न चाल्या ने लुप्त प्रायः थया. त्रिस्तुतिक मत पण लुप्त प्रासः थयो हतो. परंतु छेल्ला सो-सवासो वर्ष पहेलां तेने पुनः स्थापित करवानो जोरशोरथी प्रयत्न चालुं थयो. तत्कालीन तपागच्छना महापुरुष पू.आ.भ.श्री आत्मारामजी महाराजाए ते समये ते मतनो शास्त्राधारे जबरजस्त विरोध कर्यो

हतो. तेओश्रीमदे स्थानकवासी मतने शास्त्रविरुद्ध असत्य जाणीने त्यां पोतानो महा महिमा हतो, छतां तेने छोडीने तपागच्छनी संवेगी दीक्षा अने सुविशुद्ध परंपरानो स्वीकार कर्यो हतो. सत्यनो स्वीकार कर्या बाद असत्यनो विरोध पण कर्यो. तेनो लाभ पण थयो. **तेओ श्रीमदे पुनः चालुं थता त्रिस्तुतिक मतनुं खंडन करवा, तेनी शास्त्रविरुद्धता सिद्ध करवा माटे अनेक शास्त्रोना सहारे 'चतुर्थ स्तुति निर्णय' भाग-१ अने २ अेम बे ग्रंथो (पुस्तको) लख्या हता. ते बे ग्रंथोथी चतुर्विध संघ सत्यमां स्थिर हतो ते वधु स्थिर बन्यो.**

ते पछी पं.श्री कल्याणविजयजी म.सा. राजस्थानमां विचरीने त्यां जे जे लोको अेमां अटवाया हता. तेमने तेमांथी उगारी लेवा पुस्तक लख्या हतां अने तेनुं सारुं परिणाम पण आव्युं हतुं.

जो के, वर्तमानमां हाल तेनी चर्चा करवानुं के आ मुद्दाने उकेलवानुं कोई ज कारण नहोतुं. आम छतां गमे ते कारणे मु.जयानंदविजयजीअे पुनः आ प्रश्नने उपस्थित करवा पुस्तिकाओ लखवानुं शरु कर्युं छे. जे वांचीने अनेक लोको वारंवार आ अंगे पूछवा आवतां तेमनी जिज्ञासाने संतोषवा अने खोटी रीते कोई खोटा मतमां फसाई न जाय ते माटे आ पुस्तक लखवानी फरज पडी छे.

जवाब न अपाय तो, खोटा होय तो क्यांथी जवाब आपे ? आवी वातो पण चाली, माटे आ ग्रंथ प्रकाशित कराई रह्यो छे.

बाकी तो अमने मळेली माहिति मुजब राजस्थानना भांडकजी तीर्थमां चतुर्थस्तुतिनी मान्यता धरावता पूर्वाचार्योने मिथ्यादृष्टि, नरके जनारा वगेरे सज्झायरुपे रचीने शीलालेखमां पण कोतरी नांख्युं छे.

कई हद सुधीनो मताग्रह ! कई हद सुधीनो दुर्भाव ! मतभेदने मनभेदमां पलटाववानी कई हद सुधीनी मनोदशा ! आमां क्यां मैत्रीभाव रह्यो ?

छतां आज सुधी कांई लखवानुं विचार्युं न हतुं. परंतु मुनिराज

जयानंदविजयजीना कारणे फरज पडी छे.

वळी मुनिराजश्रीअे पोताना बंने पुस्तकोमां अप्रस्तुत चर्चाओ पण घणी करी छे. तिथि/संमेलन/बोली/स्वप्नद्रव्य/ईष्टफल सिद्धि आदि मुद्दाओ पूर्वे घणीवार चर्चाइ गयेला छे. पुन: ते मुद्दाओने उपस्थित करवानी कोई जरुर नहोती. तपागच्छना शांत वातावरणमां पथरा नांखवानी जरुर नहोती. छतां मुनिराजश्रीअे आ कार्य कया कारणसर कर्युं हशे ते समजातुं नथी.

सत्य त्रिकालाबाधित होय छे. ते क्यारे असत्य थई जवानुं नथी. बाकी असत्य उपर गमे तेटला सत्यना आवरणो चढाववामां आवे पण तेनुं असली स्वरुप तो स्वयमेव प्रगट थई जतुं होय छे.

याद रहे के, आ.श्री राजेन्द्रसूरिजी द्वारा तैयार करावेला अभिधान राजेन्द्र कोषमां पण चैत्यवंदन-प्रतिक्रमण विभागमां चार थोयथी ज चैत्यवंदना करवानी कही छे. श्रुतदेवता-क्षेत्रदेवताना कायोत्सर्ग करवाना पण कह्या छे. आ पुस्तकमां पण अे पाठोनो समावेश कर्यो ज छे.

आ पुस्तकमां प्रश्नोत्तरीरुपे तमाम शंकाओना समाधान आपवामां आव्या छे. पुस्तक ज ज्यारे कंईक कहेतुं होय, त्यारे प्रस्तावनामां तेना माटे वधु लखवुं उचित नथी.

वाचकोनी याद राखवानी मर्यादा अने परस्परना अनुसंधान विना बोध थतो न होवाथी अमुक शास्त्रपाठो बे-त्रण वार आप्या छे, तेनी नोंध लेवी.

वाचको आ पुस्तकमां वर्णवेला पदार्थोने अने संकलित करेला विषयोने वांचीने सत्यनो निर्णय स्वयं करे तेवी भलामण.

मारा आ नानकडा प्रयास द्वारा सौ कोई सत्य समजीने यथाशक्य आदरीने मुक्ति सुखने पामे अे ज अेकनी अेक सदा माटे शुभाभिलाषा.

-मुनि संयमकीर्तिविजय

प्रश्नोत्तरी

प्रश्न : त्रिस्तुतिक मतकी उत्पति कब हुई ? उसका इतिहास क्या है ?

उत्तर : त्रिस्तुतिक मतवालों का दावा है कि तीन थोय की परम्परा पूर्वधर आचार्यों से चली आ रही है। परन्तु उनकी यह बात बिल्कुल असत्य है। क्योंकि, तपागच्छ भट्टारक पू.आ.भ.श्री मुनिसुंदरसूरीश्वरजी महाराजा के शिष्य श्री विबुधहर्षभूषणजी स्वरचित श्राद्ध विनिश्चय ग्रंथ में लिखते हैं कि,....

"हुंनंदेंद्रियरुद्र ११५९ काल जनितः पक्षोस्तिराकांकितो, वेदा भारुण १२०४ काल औष्ट्रिक भवो विश्वार्क काले १२१४ चलः ॥ षट् त्र्यर्केषु १२३६ च सार्द्धपूर्णिम इति व्योमेंद्रियार्के पुनर्वर्षे १२५० त्रिस्तुतिकः कलौ जिनमते जाताः स्वकीयाग्रहात् ॥१॥"

भावार्थ : वि.सं. ११५९ में 'पूनमिया' मत शुरु हुआ। वि.सं. १२०४ में औष्ट्रिक अर्थात् 'खरतर' मत शुरु हुआ। वि.सं. १२१४ में 'अंचल' मत प्रारम्भ हुआ, वि.सं. १२६३में 'सार्द्धपूर्णिम' मत शुरु हुआ। वि.सं. १२५० में त्रिस्तुतिक= तीन थोय माननेवाला मत शुरु हुआ। ये सभी मत कलियुग में स्वाग्रहात् = अपने मिथ्या आग्रह से शुरु हुए हैं। (परन्तु जैन सिद्धांत से सम्मत नहीं हैं।) (१)।

उपरोक्त शास्त्रपाठ से पाठक समझ सकते हैं कि, त्रिस्तुतिक मत पूर्वधर आचार्यों से नहीं चला आ रहा है। बल्कि वि.सं. १२५०में जैन सिद्धांत से निरपेक्ष स्वाग्रह से शुरु हुआ है।

प्रश्न : इस मतकी उत्पत्ति हुई तब से लेकर आज तक वह अविरत चल रहा है या बीच में बंद भी हुआ था ?

उत्तर : त्रिस्तुतिक मत = तीन थोय माननेवाला मत लंबे समय तक नहीं चला। प्रायः सवा सौ वर्ष पूर्व आ.श्री राजेन्द्रसूरिजीने पुनः उसे शुरु किया है।

यह नया-नया शुरु हुआ तब स्थानकवासी मत को असत्य मानकर उसका त्याग करके तपागच्छ की संवेगी दीक्षा अंगीकार करनेवाले

पू.आ.श्री विजयानंदसूरिजीने (पू.आत्मारामजी महाराजाने) जबरदस्त विरोध किया था। त्रिस्तुतिक मत की अविहितता-असत्यता सिद्ध करने के लिए 'चतुर्थ स्तुति निर्णय' भाग-१ तथा भाग-२ की रचना भी की गई है।

इस मत का प्रारम्भ पूर्व में बताए अनुसार १२५० में हुआ। परन्तु यह मत अविरत नहीं चला। क्योंकि, इस मत को शास्त्रों एवं सुविहित परम्परा का बिल्कुल समर्थन नहीं था और यह जैन सिद्धांत से विपरीत था।

प्रश्न : मिथ्याग्रह से वि.सं. १२५० में त्रिस्तुतिक मत का प्रारम्भ हुआ ऐसा आप जो कह रहे हैं उसमें सवाल यह उठता हैं, कि यह मत किस आधार पर किन कारणों से किससे अलग होकर शुरु हुआ, इसका इतिहास क्या है ?

उत्तर : त्रिस्तुतिक असत्य मत के प्रारम्भ का इतिहास **प्रवचन परीक्षा ग्रंथ** में दर्शाया गया है वह आगे विस्तार से बताया गया है।

प्रश्न : १२५० में उत्पन्न हुआ आगमिक मत ही त्रिस्तुतिक मत कहलाता है, यह बात सही है ? यदि यह बात सही है, तो वर्तमान में उससे कैसे अलग पडता है ?

उत्तर : प्रवचन परीक्षा में आगमिक मत का ही दूसरा नाम त्रिस्तुतिक मत दर्शाया गया है। परन्तु वर्तमान में त्रिस्तुतिक मतवाले आगमिक मतसे अपने को परोक्ष से अलग मानते है और परोक्ष से ही उसका समर्थन भी करते हैं।

त्रिस्तुतिक मतवाले स्वयं को आगमिक मत से अलग बताते हैं, इसका कारण यह लगता हैं कि प्रवचन परीक्षा में आगमिक मत को शासन बाह्य-शासन विरोधी मत के रुपमें दर्शाया गया है।

इस विषयकी विशेष चर्चा प्रवचन परीक्षा के आधार पर जो उत्तर दिए हैं, उनमें की गई है।

प्रश्न : वर्तमान में त्रिस्तुतिक मतवालोंकी मुख्य मान्यताएं क्या हैं ? और वे सत्य हैं ?

उत्तर : उनकी प्रमुख मान्यताएं निम्नानुसार हैं।

(१) त्रिस्तुतिक मतवाले सम्यग्दृष्टि देव-देवी के कायोत्सर्ग करने तथा उनकी स्तुति बोलने से मना करते हैं।

(२) वंदित्ता सूत्र की ४७ वीं गाथा के उत्तरार्धमें '**सम्मदिट्ठी देवा**' पद के स्थान पर 'सम्मत्तस्स य सुद्धिं' पद बोलते हैं।

(३) देववंदन तथा प्रतिक्रमणमें चौथी थोय का निषेध करते हैं। किन्तु दीक्षा आदि में देववंदन की जो क्रिया आती है, उसमें सम्यग्दृष्टि देव-देवी के कायोत्सर्ग व उनकी स्तुति करते हैं।

(४) श्रुतदेवता एवं क्षेत्रदेवता का कायोत्सर्ग नहीं करते और उनकी स्तुति भी नहीं बोलते हैं।

(५) प्रतिक्रमण के अंतमें शांति नहीं बोलते।

(६) '**सुयदेवया०**' गाथा के श्रुतदेवता पद का अर्थ जिनवाणी बताते हैं।

उनकी ये सभी मान्यताएं शास्त्रविरोधी हैं तथा सुविहित परम्परा की विरोधी हैं, इसलिए असत्य हैं।

प्रश्न : त्रिस्तुतिक मतवाले उनकी मान्यता के लिए किन शास्त्रों को आधार बताते हैं ? उनकी मान्यता के लिए शास्त्रपाठों का उनके द्वारा किया गया अर्थघटन सच्चा है या असत्य है ?

उत्तर : नए शुरु हुए मत कोई न कोई शास्त्रपाठ देने के प्रयत्न तो करते ही हैं। परन्तु उनमें कोई सार नहीं होता। क्योंकि, वे मत या तो अपनी मान्यता की पुष्टि के लिए शास्त्रपाठ के अनुकूल अंशों को पकडते हैं अथवा शास्त्रपाठों का अर्थघटन ही विपरीत करते हैं। अपनी किसी मान्यता में महापुरुष की बातों को संदर्भरहित अपने पक्ष में खींचने का हीन प्रयास भी करते हैं। परन्तु वह मान्यता (मत) शास्त्रविरोधी होने के कारण उसे शास्त्रपाठ अथवा सुविहित महापुरुषों की परम्परा का बल प्राप्त नहीं होता।

फिर भी त्रिस्तुतिक मतवाले **श्री व्यवहार भाष्यकी** निम्नांकित गाथा को अपने मत के समर्थन में प्रस्तुत करते हैं।

तिन्नि वा कड्ढई जाव, थुईओ तिसिलोइया ।
ताव तत्थ अणुन्नायं, कारणेण परेण वि ॥१॥

पहले हम इस गाथा की व्याख्या (टीका) का अर्थ देखें।

"श्रुतस्तवानन्तरं तिस्रः स्तुती स्त्रिश्लोकिकाः श्लोकत्रय प्रमाणा यावत् कुर्वते तावत् तत्र चैत्यायतने स्थानमनुज्ञातं, कारणवशात् परेणाप्युपस्थानमनुज्ञातमिति ॥"

भावार्थ : श्रुतस्तव के बाद तीन श्लोक प्रमाण तीन स्तुतियां कहलाएं तब तक मंदिर में रहने की आज्ञा है। कारणवश अधिक रहने की भी आज्ञा है।

यहां कहने का तात्पर्य यह है कि, साधु जिनमंदिर में रुकते नहीं है अथवा प्रतिक्रमण के अंत में मंगल के निमित्त 'नमोऽस्तु वर्धमानाय' अथवा 'विशाललोचन०' की तरह चैत्यवंदन के अंतमें प्रणिधानार्थ तीन श्लोकात्मक स्तुति कहे, तब तक साधुओं को मंदिर में रुकने की आज्ञा है। विशेष कारण में अधिक रुकने की भी आज्ञा है। (यह तात्पर्य 'संघाचार' नामक चैत्यवंदन भाष्य की टीका में है।)

उपरोक्त व्यवहारभाष्य की गाथा नीचे की गाथा के साथ सम्बद्ध है।

दुब्भिगंधमलस्सावि तणुरप्पेस न्हाणया ।
दुहा वा ओवहो चेव, तो चिट्ठंति न चेइये ॥१॥
तिन्नि वा कड्ढइ जाव, थुईओ तिसिलोइया ।
ताव तत्थ अणुन्नायं कारणेवा परेणऽवि ॥२॥

इन दोनों गाथा का तात्पर्यार्थ '**संघाचार**' नामक चैत्यवंदन भाष्य की टीका में **पू.आ.भ.श्री धर्मघोषसूरिजी** ने निम्नानुसार बताया है।

"एतयोर्भावार्थः- साधवश्चैत्यगृहे न तिष्ठन्ति, अथवा चैत्यवंदनान्ते शक्रस्तवाद्यनन्तरं तिस्रः स्तुतीः श्लोकत्रयप्रमाणाः प्रणिधानार्थं

यावत्कथ्यन्ते - प्रतिक्रमणानन्तरमंगलार्थं स्तुतित्रयपाठवत् - तावच्चैत्यगृहे(स्थानं) साधुनामनुज्ञातं निष्कारणं न परतः ।।''

भावार्थ : (उपरोक्त दोनों गाथा का भावार्थ इस प्रकार है।)

साधु चैत्यगृह में रुकते नहीं। अथवा प्रतिक्रमण के अंत में मंगल के निमित्त '**नमोऽस्तु वर्धमानाय**' तथा '**विशाललोचन०**' की तरह चैत्यवंदना के अंत में शक्रस्तवादिके अनंतर प्रणिधानार्थ तीन श्लोक प्रमाण तीन स्तुति कही जाएं, तब तक मंदिरमें रुकना मान्य रखा है, इसके बाद निष्कारण ज्यादा नहीं रुकना चाहिए।

इस प्रकार 'तिन्निवा' गाथा, चैत्यवंदना में तीन थोय कहना नहीं दर्शाती है। बल्कि वह 'तिन्निवा' गाथा, चैत्यवंदनकी विधिकी भी प्रतिपादक नहीं है।

प्रश्न : 'तिन्निवा' गाथा, चैत्यवंदना की विधि की प्रतिपादक नहीं; ऐसा आप किस आधार पर कहते हैं?

उत्तर : 'तिन्निवा' गाथा, चैत्यवंदना की विधि की प्रतिपादक नहीं है। क्योंकि, वादीवेताल पू.आ.भ.श्री शांतिसूरीश्वरजी महाराजाने **चैत्यवंदन महाभाष्य** में स्पष्टता की है कि, '**तिन्निवा**' गाथा, चैत्यवंदन की विधि की प्रतिपादक नहीं है। इसके लिए गाथा ८२२ से ८२६ तक चर्चा की है। (यह निम्नानुसार) हैं।

**''सुत्ते एगविह च्चिय, भणिया तो भेयसाहणमजुत्तं ।
इय थुलमई कोइ जंपइ सुत्तं इमं सरिउं ॥८२२॥
तिन्नि वा कड्ढई जाव थुईओ तिसिलोइया ।
ताव तत्थ अणुन्नायं, कारणेण परेण वि ॥८२३॥
भणइ गुरु तं सुत्तं चिइवंदणविहिपरुवगं न भवे ।
निक्कारणजिणमंदिरपरिभोग निवारगत्तेण ॥८२४॥
जं वा-सद्दो पयडो पक्खंतरसूयगो तहिं अत्थि ।**

संपुन्नं वा वंदइ कड्डइ वा तिन्नि उ थुईओ ॥८२५॥
एसो वि हु भावत्थो, संभाविज्जइ इमस्स सुत्तस्स ।
ता अन्नत्थं सुत्तं, अन्नत्थं न जोइउं जुत्तं ॥८२६॥''

भावार्थ : स्थूलमतिवाला कोई नीचे (अब कहा जाएगा वह) सूत्र को याद करके कहता है कि, सूत्रमें एक ही प्रकार का चैत्यवंदन कहा गया है। इसलिए (उसके) भेद कहना योग्य नहीं। (८२२)

साधुओं को मुख्यतया श्रुतस्तव के बाद तीन श्लोक प्रमाण स्तुतियां कही जाए तब तक जिनमंदिर में रहने की अनुज्ञा है। कारण हो तो उससे अधिक समय तक भी रहने की अनुज्ञा है। (८२३)

गुरु कहते हैं कि, यह सूत्र निष्कारण जिनमंदिर में रहने का निषेध करनेवाला होने से चैत्यवंदन की विधि का प्ररुपक नहीं। (८२४)

अथवा इस सूत्रमें अन्य पक्ष का (=विकल्पका) सूचक 'वा' शब्द स्पष्टतया है ही। इसीलिए उस सूत्र का यह अर्थ होता है कि, सम्पूर्ण चैत्यवंदना करे अथवा तीन स्तुतियां करे। इस सूत्र का यह भी भावार्थ संभवित है। इसलिए अन्य अर्थवाले सूत्र को अन्य अर्थ में जोड़ना योग्य नहीं. (८२२-८२६)

आगे कहते हैं कि,

जइ एत्तियमेत्तं चिय, जिणवंदणमणुमयं सुए हुत्तं ।
थुइ-थोत्ताइपवित्ती, निरत्थिया होज्ज सव्वाऽवि ॥८२७॥
संविग्गा विहिरसिया गीयत्थतमा य सुरिणा पुरिसा ।
कहं ते सुत्तविरुद्धं सामायारीं परुवेंति ॥८२८॥

भावार्थ : यदि सूत्र में इतना ही चैत्यवंदन अनुमत हो, तो स्तुति स्तोत्रादि सम्बंधी समस्त प्रवृत्तियां निरर्थक हो जाएं। संविग्न, विधिरसिक तथा सर्वोत्कृष्ट गीतार्थ आचार्य भगवंत सूत्र विरुद्ध सामाचारी की प्ररुपणा कैसे करे ?

उपरोक्त चर्चाका सार यहहै कि,

- '**तिन्निवा**' गाथा चैत्यवंदना की विधि की प्रतिपादक नहीं।
- '**तिन्निवा**' गाथा साधुओं को जिनमंदिर में अधिक न रुकने की आज्ञा देनेवाला सूत्र है। अथवा चैत्यवंदन के अंतमें प्रणिधानार्थ तीन श्लोक प्रमाण स्तुति कही जाएं तब तक रुकने के लिए कहनेवाला सूत्र है। इससे अधिक न रुकें, यह भी साथ में कहता है।
- '**तिन्निवा**' गाथागत '**वा**' शब्द वैकल्पिक व्यवस्था दर्शाता है। अर्थात् इस सूत्र से यह सूचित होता है कि, सम्पूर्ण चैत्यवंदन करे अथवा तीन स्तुतियां कहे।
- '**तिन्निवा**' गाथा; चैत्यवंदन में तीन थोय ही कहें, ऐसा साक्षात् अथवा परोक्ष सूचन नहीं करती।

इससे प्रतिफलित होता है कि, '**तिन्निवा**' व्यवहारभाष्य की गाथा को आगे करके त्रिस्तुतिक मतवाले अपने मतकी पुष्टि करते हैं, यह अर्थघटन असत्य है। **इसलिए 'अंधकार से प्रकाश की ओर' पुस्तक के पृष्ठ-२३ पर जो प्रश्नोत्तरी है, वह शास्त्रविरोधी है, यह सिद्ध होता है।**

प्रश्न : 'अंधकार से प्रकाश की ओर' पुस्तक के पृष्ठ-२३ पर कौन सी प्रश्नोत्तरी है?

उत्तर : 'अंधकार से प्रकाश की ओर' पुस्तक के पृष्ठ-२३ पर निम्नलिखित प्रश्नोत्तरी है।

- "पांच दण्डक से होनेवाले देववंदन में चार स्तुतियां आती हैं। तो यहां तीन स्तुतियां कैसे कहते हैं?

★ कुछ लोग तीन स्तुतियों को ही मानते हैं। चतुर्थ स्तुति नई बनाई मानते हैं। इसलिए यहां तीन स्तुतियों के माननेवालोंके प्रमाण से तीन स्तुतियां कही गई हैं।

- किस आधार पर वे तीन स्तुतियों को मानते हैं?

★ व्यवहार भाष्यकी नीचे दी गई गाथा के आधार पर मानते हैं।

तिन्निवा.. ॥७३॥ (गाथा पूर्व में दर्शायी जा चुकी है।)

साधुओं को मुख्यतया श्रुतस्तव (पुक्खरवरदीवड्ढे ।) के बाद सिद्धाणं बुद्धाणं के तीन श्लोक प्रमाण तीन स्तुति कही जाएं, तब तक जिनमंदिर में रहने की आज्ञा है। यदि विशेष कारण हो तो अधिक समय भी रहने की आज्ञा है।

वही लेखक मु.श्री जयानंदविजयजी अपनी 'सत्यकी खोज' पुस्तक के पृष्ठ-८८ पर उपरोक्त प्रश्नोत्तरी में 'तिन्निवा' गाथा का अर्थ अलग लिखते हैं।

"साधुओं को मुख्यता तीन श्लोक प्रमाण तीन स्तुतियां करने तक ही जिनमंदिरमें रुकने की आज्ञा है। यदि विशेष कारण हो तो अधिक भी रुकने की आज्ञा है।"

लेखक मुनि श्री जयानंदविजयजी ने '**तिन्निवा**' गाथाका जो अर्थघटन किया है और अपने मत के आधार में वह गाथा दी है, वह पूर्वोक्त चर्चा से असत्य सिद्ध होती है, यह पाठक स्वयमेव समझ जाएंगे।

'**अंधकार से प्रकाश की ओर**' पुस्तक के पृष्ठ-२३ पर लिखी प्रश्नोत्तरी हमारे उपरोक्त प्रश्नोत्तर से तथा प्रस्तुत किए गए पाठों से स्पष्ट रुप से असत्य सिद्ध होती है।

लेखक मुनि श्री **जयानंदविजयजी** ने '**सत्य की खोज**' पुस्तकको नूतन आवृत्ति में; कि जिसमें अन्य असंगत चर्चा प्रस्तुत की है, उसमें प्रथम संस्करण के अनुसार अर्थघटन किया है, यह अर्थघटन भी असत्य है।

लेखक मुनि **श्रीजयानंदविजयजीने** उपरोक्त प्रश्न के उत्तरमें चतुर्थ स्तुतिको अर्वाचीन=नूतन कहा है। इसकी चर्चा आगे करेंगे। परन्तु उनकी दोनों पुस्तकों में एक बात द्रष्टिमें आती है कि,

उन्होंने वादीवेताल पू.आ.भ.श्री शांतिसूरिजी म.सा. द्वारा विरचित

चैत्यवंदन महाभाष्य की बातों को ('तिन्निवा'गाथा की स्पष्टताओं को) एक बाजु पर रख दिया है। कारण स्पष्ट है कि, वह पाठ-ग्रंथ उनकी मान्यतामें अवरोधक बनता है।

किसी भी शास्त्रपाठ का अर्थघटन अन्य शास्त्रपाठों से विरुद्ध न हो, इस प्रकार करना होता है। सभी शास्त्रपाठ स्वसम्बंधी (अर्थात् अपने ही विषयको दर्शानेवाले) अन्य शास्त्रपाठ से समन्वित होते हैं। टीकाकार परमर्षि इन सभी शास्त्रपाठों का समन्वय करते हैं। इसलिए एक स्थल से किसीभी पाठ को देखकर उसका अर्थघटन करें, उसमें उससे सम्बंधित अन्य शास्त्रपाठों का विरोध तो नहीं होता है न ! यह भी देखना होता है। यदि यह न देखा जाए तो अर्थघटन गलत होता है। दोनों पुस्तकों के लेखकों ने अन्य शास्त्रपाठों को देखा ही नहीं है। ऐसा कहना पडेगा। लेकिन ऐसा कहा नहीं जा सकता। क्योंकि उन्होंने अपनी पुस्तकमें चैत्यवंदन महाभाष्य ग्रंथ के नाम उल्लेख तो किया ही है। साथ ही उस ग्रंथ में चतुर्थ स्तुति की सिद्धि भी की है, उसका उल्लेख भी किया है। इसलिए लेखक के ध्यानमें यह पाठ होने के बावजूद वह उनकी मान्यता को तोड़नेवाला होने के कारण उसे ग्रहण नहीं किया।

लेखक मुनिश्री जयानंदविजयजी यदि सत्याग्रही हों, तो उन्हें चैत्यवंदन महाभाष्य की 'तिन्निवा' गाथा की चर्चावाला, चैत्यवंदन के नौ भेदवाला तथा चतुर्थस्तुति की सिद्धिवाला पाठ अपनी पुस्तकमें रखना चाहिए था और उसका यथार्थ अर्थ दर्शाना चाहिए था।

हमें भरोसा है कि, लेखक मुनि श्रीजयानंदविजयजी यह कार्य करेंगे तो अपना मंतव्य भी बदले बिना नहीं रहेंगे। क्योंकि, लेखक ने अपने मत के पूर्व के लेखकों की भूलों तथा पाठों का गलत अर्थघटन बदला ही है। अपनी दोनों पुस्तकों में भी '**तिन्निवा**' गाथा का अर्थ बदला है। (यह पाठक देख सकेंगे।) यह क्यों बदला है, यह भी स्पष्टता करनी चाहिए थी।

प्रश्न: लेखक मुनिश्री जयानंदविजयजीने 'तिन्निवा' गाथा का

अर्थ अपनी दोनों पुस्तकों में कैसे बदला है ?

उत्तर : 'अंधकार से प्रकाश की ओर' पुस्तक के पृष्ठ-२३ पर 'तिन्निवा' गाथा का अर्थ निम्नानुसार लिखा है।

"साधुओंको मुख्यतया श्रुतस्तव (पुक्खरवरदीवड्ढे) के बादमें सिद्धाणं बुद्धाणं के तीन श्लोक प्रमाण तीन स्तुतियां कही जाय, तब तक जिनमंदिर में रहने की ही आज्ञा है। यदि विशेष कारण हो तो अधिक समय भी रहने की आज्ञा है।"

'सत्य की खोज' पुस्तक के (नूतन संस्करण के) पृष्ठ-८२ पर 'तिन्निवा' गाथा का अर्थ निम्नानुसार लिखा है।

"साधुओं को मुख्यता से तीन श्लोक प्रमाण तीन स्तुतियां कही जाय, उस समय तक जिनमंदिर में रहने की ही आज्ञा है। अगर विशेष कारण हो तो ज्यादा समय भी रुहने की आज्ञा है।"

लेखकश्रीने प्रथम पुस्तकमें 'सिद्धाणं बुद्धाणं' की तीन स्तुतियां बोलने की बात की है। इस पाठ का इस प्रकार अर्थघटन करने के बाद ऐसा लगता है कि, **पू.पं.श्री कल्याणविजयजीम.सा.** के त्रिस्तुतिक मत मिमांसा (भाग-१) तथा **पू.आत्मारामजी महाराजा** के चतुर्थस्तुतिनिर्णय भाग-१ तथा **पू.आ.भ.श्री राजशेखरसूरिजी** के पंचाशक भाषांतर में **'तिन्निवा'** गाथा का अर्थ देखकर अपनी दूसरी पुस्तक में अर्थ बदला है। किन्तु उस पाठ का रहस्य नहीं दर्शाया है। क्योंकि, वह दर्शाएं तो अपना मत स्वयं असत्य सिद्ध हो जाता है। साथ ही सत्य समझते होने के बावजूद कदाग्रह से सत्य स्वीकार करने से इनकार किया लगता है। इस गाथा का रहस्य हमने पूर्वे देखा है।

इस प्रकार पाठक समझ सकेंगे कि, त्रिस्तुतिक मत के लेखकों ने **'तिन्निवा'** गाथा को अपने मतके समर्थन में प्रस्तुत किया है, वह बिल्कुल असत्य है।

प्रश्न : त्रिस्तुतिक मतवाले अपने मत के समर्थन में और कौन सा पाठ प्रस्तुत करते हैं ?

उत्तर : त्रिस्तुतिक मतके लेखक अपनी मान्यता की पुष्टि के लिए दूसरा एक बृहत्कल्प भाष्य की गाथा का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। इसे भी देखेंगे और इसमें भी वे कैसी भूल करते हैं अथवा इरादापूर्वक उस प्रमाण को गलत तरीके से अपने पक्ष में कैसे प्रस्तुत करते हैं, यह देखेंगे। यह पाठ किसलिए है और वे किसलिए उपयोग करते हैं, यह विचार करेंगे तो उनकी अनभिज्ञता स्वयमेव प्रकट हो जाएगी।

त्रिस्तुतिक मत के आ.**यतीन्द्रसूरिजी**ने 'श्री सत्यसमर्थक प्रश्नोत्तरी' पुस्तक के पृष्ठ-१७ पर तीन थोय के चैत्यवंदन का समर्थन करने के लिए क्षमाश्रमण श्रीसंघदास गणिकृत बृहत्कल्पभाष्य की निम्नलिखित गाथा की साक्षी दी है।

निस्सकडमनिस्सकडे, चेइए सव्वेहिं थुई तिन्नि।
वेलं व चेइयाणं, तओ एक्केक्किआ वावि ॥१॥

पू.आ.भ.श्री रत्नशेखरसूरिकृत स्वोपज्ञ श्राद्धविधि प्रकरण में उपरोक्त गाथा की व्याख्या इस प्रकार है।

निस्सकडेति निश्राकृते-गच्छ प्रतिबद्धे, अनिश्राकृते च तद्विपरीते चैत्ये, सर्वत्र चैत्ये तिस्त्रः स्तुतयो दीयन्ते। प्रतिचैत्ये स्तुतित्रये दीयमाने वेलाया अतिक्रमो भवति भूयांसि वा तत्र चैत्यानि। ततो वेलां चैत्यानि वा ज्ञात्वा प्रतिचैत्यमेकैकापि स्तुतिर्दातव्या।

भावार्थ : गच्छ प्रतिबद्ध मंदिरको निश्राकृत जिनमंदिर कहा जाता है। अर्थात् किसी निश्चित गच्छ के जिनमंदिर को निश्राकृत जिनमंदिर कहते हैं। गच्छ के प्रतिबंध रहित मंदिर को अनिश्राकृत जिनमंदिर कहा जाता है। इन गच्छ प्रतिबद्ध तथा अप्रतिबद्ध सभी जिनमंदिरो में तीन-तीन स्तुतियां कहें। प्रत्येक जिनमंदिरमें तीन थोय कहने में काफी समय लगता हो तथा जिनमंदिर अधिक हो

तो अपने पास समय का अभाव होने पर प्रत्येक जिनमंदिर में एक-एक थोय कही जा सकती है।

उपरोक्त बात को ही मुनिश्री जयानंदविजयजीने अपनी पुस्तकमें दोहराया है। **परन्तु उपरोक्त बृहत्कल्पभाष्य की गाथा से उनकी मान्यता सिद्ध नहीं होती। क्योंकि, चैत्यवंदना के जो नौ भेद चैत्यवंदन महाभाष्य में बताए गए है, उनमें से छठवें भेदवाली चैत्यवंदना बृहत्कल्प भाष्यकी गाथामें दर्शायी गई है। यह छठवीं भेदवाली चैत्यवंदना चैत्य परिपाटीमें की जाती है, यह चैत्यवंदन महाभाष्य में स्पष्ट उल्लेख है। इसलिए देववंदन-प्रतिक्रमणमें भी तीन थोय की चैत्यवंदना करना उपरोक्त गाथा से सिद्ध नहीं होता।**

प्रश्न : चैत्यवंदना के नौ भेद कौन से है?

उत्तर : अवसर प्राप्त चैत्यवंदना के नौ भेद बताए गए हैं और इनमें से छह भेद के लिए ग्रंथकारश्री ने जो निर्देश दिए है, वे भी अब आगे बताए गए हैं।

चिइवंदणा तिभेया, जहन्न उक्कोस मज्झिमा चेव।
एक्केक्का वि त्रिभेया, जेट्ठ विजेट्ठा कणिट्ठा य ॥१५३॥

-चैत्यवंदना के जघन्य, मध्यम तथा श्रेष्ठ ये तीन प्रकार हैं। प्रत्येक चैत्यवंदन के भी जघन्य, मध्यम व श्रेष्ठ ये तीन प्रकार हैं। (इस प्रकार चैत्यवंदन के कुल नौ प्रकार हैं।)

(अब ये नौ भेद कैसे होते हैं यह बताते हैं।)

एगनमोक्कारेणं होइ कणिट्ठा जहन्निआ एसा।
जहसत्तिनमोक्कारा जहन्निआ भन्नइ विजेट्ठा ॥१५४॥
स च्चिय सक्कथयंता, नेया जिट्ठा जहन्नियासन्ना।
स च्चिय इरिआवहिआसहिआ सक्कथयदंडेहिं ॥१५५॥
मज्झिमकणिट्ठिगेसा, मज्झिम (वि) जेट्ठा उ होइ सा चेव।
चेइयदंडयथुइएगसंगया सव्वमज्झिमया ॥१५६॥

मज्झिमजेट्ठा स च्चिय, तिन्नि थुईओ सिलोयतियजुत्ता ।
उक्कोसकणिट्ठा पुण, स च्चिय सक्कत्थयाइजुया ॥१५७॥
थुइजुयलजुयलएणं, दुगुणियचेइयथयाइदंडा जा ।
सा उक्कोसविजेट्ठा, निद्दिट्ठा पुव्वसूरीहिं ॥१५८॥
थोत्तपणिवायदंडगपणिहाणतिगेण संजुआ एसा ।
संपुन्ना विन्नेया, जेट्ठा उक्कोसिया नाम ॥१५९॥

भावार्थ : एक नमस्कार करने से जघन्य जघन्य (चैत्यवंदनाका) प्रथम भेद होता है। (१) यथाशक्ति अधिक नमस्कार करने से जघन्य मध्यम दूसरा भेद होता है। (२) नमस्कार के बाद शक्रस्तव (नमुत्थुणं) कहने से जघन्योत्कृष्ट तीसरा भेद होता है। (३)

इरियावही, नमस्कार, शक्रस्तव, चैत्यदंडक एक व एक स्तुति, यह कहने से मध्यम जघन्य चौथा भेद होता है। (४)

इरियावही, नमस्कार, शक्रस्तव, चैत्यदंडक एक व लोगस्स कहने से मध्यम-मध्यम पांचवां भेद होता है। (५)

इरियावही, नमस्कार, शक्रस्तव, अरिहंत चेइयाणं-थोय, लोगस्स-सव्वलोए थोय, पुक्खरवरदी-सुयस्स थोय, सिद्धाणं बुद्धाणं० की तीन गाथा, इतना कहने से मध्यमोत्कृष्ट छठवां भेद होता हैं। (६)

इरियावही, नमस्कार, शक्रस्तवादि दंडक पांच, स्तुति चार, नमुत्थुणं, जावंति एक, जावंत एक, स्तवन एक व जयवीयराय, इतना कहने से उत्कृष्ट जघन्य सातवां भेद होता है। (७)

आठ थोय, दो बार चैत्यस्तवादि दंडक, यह कहने से उत्कृष्टमध्यम आठवां भेद होता है। (८)

स्तोत्र, प्रणिपात दंडक, प्रणिधान तीन, यह सहित आठ थोय, दो बार चैत्यस्तवादि दंडक, इतना कहने से उत्कृष्टोत्कृष्ट नौवां भेद होता है। (९) (१५४ से १५९)

(यहां प्रणिधानत्रिक से जावंति, जावंत, एवं जयवीयराय ये तीन सूत्र विवक्षित हैं।)

चैत्यवंदन महाभाष्य में चैत्यवंदना के नौ भेद बताकर अब आगे कहते हैं।

एसा नवप्पयारा, आइन्ना वंदणा जिणमयम्मि ।
कालोचियकारीणं, अणग्गहाणं सुहा सव्वा ॥१६०॥

-जिनमत में इन नौ प्रकार के चैत्यवंदन का आचरण किया गया है। कदाग्रह से रहित एवं कालोचित करनेवालों को सभी प्रकार का चैत्यवंदन शुभ है। (१६०)

उक्कोसा तिविहा वि हु, कायव्वा सत्तिओ उभयकालं ।
सड्ढेहिं उ सविसेसं, जम्हा तेसिं इमं सुत्तं ॥१६१॥

-शक्ति हो तो उभयकाल (सुबह-शाम) तीन प्रकारका उत्कृष्ट चैत्यवंदन करना चाहिए। इसमें भी श्रावकों को तो विशेष रुप से करना चाहिए। क्योंकि, श्रावको के लिए यह (नीचे की गाथा में कहा गया है वह) सूत्र है। (१६१)

(उपरोक्त श्लोक में जो तीन प्रकार का उत्कृष्ट चैत्यवंदना कहा गया है, उन तीन प्रकार में से कोई भी एक प्रकार का मानें।)

वंदइ उभओ कालं, पि चेइयाइं थय-थुईपरमो ।
जिणवरपडिमागर-धूव-पुप्फ-गंधच्चणुज्जुत्तो ॥१६२॥

-स्तवन स्तुतिमें तत्पर तथा चंदन, धूप, पुष्प एवं सुगंधित पदार्थो से जिनवर की प्रतिमाओं की पूजा करने में उद्यमशील श्रावक उभयकाल प्रतिमाओं को वंदन करता है। (१६२)

सेसा पुण छब्भेया, कायव्वा देसकालमासज्ज ।
समणेहिं सावएहिं, चेइयपरिवाडिमाईसु ॥१६३॥

-शेष छह प्रकार के चैत्यवंदन साधुओं को तथा श्रावकों को देशकाल के अनुसार **चैत्यपरिपाटी आदि** में करने चाहिए।

उपरोक्त पाठ में स्पष्ट फरमाया गया है कि,

जिन तीन थोय से चैत्यवंदन करने का (नौ चैत्यवंदना के प्रकार में से) छठवां भेद है, वह चैत्यपरिपाटी में करने के लिए है। आदि पद से साधु के मृतक को परठवने के बाद जो चैत्यवंदना करनी होती है, उसमें करने के लिए है।

इस प्रकार त्रिस्तुतिक मतवालों ने "**निस्सकड०**" इस बृहत्कल्प भाष्य की गाथा को आगे करके चौथी थोय एवं प्रतिक्रमण की आद्यंत की चैत्यवंदना की चौथी थोय का निषेध कर, तीन थोय की तथा प्रतिक्रमणकी आद्यंतकी चैत्यवंदना में तीन थोय की स्थापना करने के लिए जो प्रयत्न किया है, वह शास्त्र विरोधी सिद्ध होता है।

चैत्यवंदन महाभाष्य की गाथा-१६३ में स्पष्ट कहा है कि, तीन थोय से जो चैत्यवंदना बताई गई है, वह चैत्यपरिपाटी में करनी है। प्रतिक्रमण की आद्यंतकी चैत्यवंदना में नहीं। इसलिए मुनिश्री जयानंदविजयजीने 'अंधकार से प्रकाश की ओर' पुस्तक के पृष्ठ-८१-८२ पर जो प्रश्नोत्तरी रची है, वह शास्त्र विरोधी है। क्योंकि, 'निस्सकड०' गाथागत तीन थोय की चैत्यवंदना चैत्यपरिपाटी में ही चैत्यवंदन महाभाष्यकारने विहित की है। परन्तु जिनमंदिरमें होनेवाली देववंदना में नहीं। क्योंकि, (ऊपर दर्शाए अनुसार) चैत्यवंदन महाभाष्यकारने गाथा-१६१ में श्रावकों से उत्कृष्ट चैत्यवंदन ही करने की सिफारिश की है। तीन थोय के चैत्यवंदन की सिफारीश नहीं की है। साथ ही प्रतिक्रमण की आद्यंतकी चैत्यवंदना के अंदर भी तीन थोय की सिफारीश नहीं की है। पूर्व में बताए अनुसार तो भाष्यकार ने चार थोय से ही चैत्यवंदना विहित की है।

पाठकों को याद रहे कि, त्रिस्तुतिक मत के लेखकों ने चैत्यवंदन महाभाष्य के पाठों की साक्षी की प्रत्येक स्थल पर उपेक्षा की है। कारण सहज समझा जा सकता है कि, अपनी मान्यतामें वह ग्रंथ अनुकूल नहीं आया। चैत्यवंदन

महाभाष्य ग्रंथ सुविहित महापुरुषकी रचना है। उसके विरुद्ध बात करना उत्सूत्र नहीं कहा जाए तो और क्या कहा जाए ? यह पाठक स्वयं विचार करें।

प्रश्न : मुनिश्री जयानंदविजयजी ने पू.आत्मारामजी महाराजाको अपने पक्षमें खडा करने का प्रयत्न करते हुए प्रथम पुस्तक के पृष्ठ-१७ पर कहा है कि,

"जैन तत्त्वादर्श पुस्तक में श्री आत्मारामजी ने भी स्पष्ट लिखा है कि तीन स्तुति करते अगर समय ज्यादा हो जाता है और ज्यादा मंदिर हो तो प्रत्येक मंदिर में एक एक स्तुति बोलें।

तो इस बारे में आप क्या कहते हैं ?

उत्तर : मुनिश्री जयानंदविजयजी की यह बात लोगों को भ्रममें डालनेवाली है। क्योंकि, पू.आत्मारामजी महाराजा द्वारा रचित चतुर्थस्तुतिनिर्णय (भाग-१) में पृष्ठ-२१ पर उपरोक्त बात का खुलासा करते हुए कहा गया है कि,

"कल्पभाष्य की गाथा का यही लेख हमारे द्वारा रचे हुए जैन तत्त्वादर्श पुस्तक में है। तिस लेख का यही उपर लिखा हूआ अभिप्राय है, तो फिर श्रीरत्नविजयजी और श्रीधनविजयजी जैनशास्त्र का एवं मेरा अभिप्राय जाने विना लोगों से कहते हैं कि आत्मारामजी ने भी जैन तत्त्वादर्श में तीन ही थुई कही हैं। ऐसा कथन करके भोले लोगों सें प्रतिक्रमण के आद्यंत की चैत्यवंदना में चौथी थुई छुड़ाके फिरते हैं। तो हमारा अभिप्रायोंके जाने विना ही लोकोंके आगे हमारा झूठा अभिप्राय जाहिर करना यह काम क्या सत्पुरुषोंको करना योग्य है ? जेकर आप दोनोकों परभव बिगडनेका भय होवेगा तब इस कल्पभाष्य की गाथा को आलंबके प्रतिक्रमण की आद्यंत चैत्यवंदनामें चौथी थुई का कदापि निषेध न करेंगे अन्यथा इनकी इच्छा। हम तो जैसा शास्त्रो में लिखा है वैसा पूर्वाचार्यों के वचन सत्यार्थ जानके यथार्थ सुना देते हैं। जो भवभीरु होवेगा वह अवश्य मान्य लेवेगा। इति कल्पभाष्य गाथा निर्णयः"

पू.आत्मारामजी महाराजा के नाम से लेखक ने दुष्प्रचार किया है, जो असत्य है, यह पूज्य आत्मारामजी महाराजाकी उपरोक्त बात से सिद्ध होता है।

त्रिस्तुतिक मत की असत्यता को-शास्त्र विरुद्धता को पू.आत्मारामजी महाराजाने चतुर्थस्तुतिनिर्णय भाग-१-२में विस्तार से कहा है। ये दोनो ग्रंथ देखने के लिए पाठकों से अनुरोध है।

हालांकि, मुनिश्री जयानंदविजयजीने संदर्भहीन अनेक शास्त्रपाठोंको तथा अनेक आचार्य भगवंतो आदि के संदर्भहीन उल्लेखोंको अपनी मान्यता के समर्थन में अपनी दोनों पुस्तकों में जगह-जगह दर्शाया है। शास्त्रपाठ एवं महात्माओं के वचन कुछ अलगही दर्शाते हैं, और मुनिश्रीने उनकी बातों को अपने पक्षमें गलत तरीके से उपयोग करके लोगों को भ्रम में डालने का प्रयास किया है। इनमें से एक नमूना ऊपर हमने देखा।

प्रश्न : मुनिश्री जयानंदविजयजी अनेक आचार्य भगवंतो आदि के संदर्भहीन उल्लेखों को अपने पक्षमें गलत तरीके से पेश करते हैं, ऐसा आप जो कहरहे हैं, तो इसके लिए कोई प्रमाण भी दे सकते हैं ?

उत्तर : हां, ऐसे एक नहीं किन्तु कई प्रमाण दिए जा सकते हैं।

जैसे कि, १- **पू.पं.श्री कल्याणविजयजी म.सा.** चार थोय मानते हैं और तीन थोय के खंडन के लिए पुस्तक भी लिख चुके हैं, फिर भी उनके **प्रतिक्रमण विधि संग्रह** के पाठ गलत परिप्रेक्ष्य में पेश किए गए हैं।

२- **पू.आ.भ.श्री भुवनभानुसूरिजी म.सा.** भी चार थोय मानते हैं। फिर भी उनके '**परमतेज**' पुस्तक के अंश गलत परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किए गए हैं।

३- **पू.आ.भ.श्री आत्मारामजी म.सा.** चार थोय के समर्थन व तीन थोय के खंडन के लिए दो पुस्तकें लिख चुके हैं। फिर भी उनके '**जैनतत्त्वादर्श**' ग्रंथ के अंशो को गलत तरीके से प्रस्तुत किया गया है।

४- **पू.आ.भ.श्री रामचंद्रसूरिजी म.सा.** के प्रवचन अंश भी गलत

परिप्रेक्ष्य में पेश किए गए हैं।

इसी प्रकार **पं.श्री चंद्रशेखरविजयजी म.सा.** आदि के प्रवचन, पुस्तकें व मासिकों के अंश भी मुनिश्री जयानंदविजयजी ने गलत तरीके से प्रस्तुत करके लोगों को भ्रम में डालने का दुष्कृत्य किया है।

इसलिए निस्सकड० कल्पभाष्यकी गाथासे भी त्रिस्तुतिक मत की सिद्धि नहीं होती।

प्रश्न : मुनिश्री जयानंदविजयजी आदि 'पंचाशकवृत्ति' में चतुर्थस्तुतिको अर्वाचीन कहा है व त्रिस्तुति को प्राचीन कहा है, ऐसा वे जो प्रचार करते हैं। उनकी यह बात सच्ची हैं ?

उत्तर : त्रिस्तुतिक मतवाले पंचाशकवृत्ति के पाठ को अपने मतकी पुष्टि के लिए खूब प्रचार करते हैं। परन्तु उनकी बात शास्त्रविरोधी है। क्योंकि पंचाशकवृत्ति के पाठ से तो चार स्तुति का ही समर्थन होता है, यह अब देखें।

तथा च तत्पाठः।

नवकारेण जहन्ना, दंडग थुइ जुअल मज्झिमा णेआ।

संपुण्णा उक्कोसा, विहिणा खलु वंदणा तिविहा ॥१॥

व्याख्या ॥ नमस्कारेण 'सिद्ध मरुय मणिंदिय, मक्किय मणवज्जं मच्चुयं वीरं। पणमामि सयलतिहुयण, मत्थयचूडामणिं सिरसा' इत्यादि पाठपूर्वक नमस्क्रियालक्षणेन करणभूतेन क्रियमाणा जघन्या। स्वल्पा पाठक्रिययोरल्पत्वाद्वंदना भवतीति गम्यं। उत्कृष्टादि त्रिभेदमित्युक्त्वापि जघन्यायाः प्रथममभिधानं तदादिशब्दस्य प्रकारार्थत्वान्न दुष्टं, तथा दंडकश्चारिहंतचेइयाणमित्यादिस्तुतिश्च प्रतीता तयोर्युगलं युग्ममेते एव वा युगलं दंडकस्तुतियुगलमिह प्राकृतत्वेन प्रथमैकवचनस्य तृतीयैकवचनस्य वा लोपो द्रष्टव्यः मध्यमाद्धन्योत्कृष्टा पाठक्रिययोस्तथा-विधत्वादेतच्च व्याख्यानमिमां कल्पभाष्यगाथा- मुपजीव्य कुर्वंति। तद्यथा

निस्सकडमनिस्सकडे, वावि चेइए सव्वहिं थुइ तिण्णि।
वेलं व चेइयाणि, विणाओ एक्कक्किया वा वि ॥

यतो दंडकावसाने एका स्तुतिर्दीयते इति दंडकस्तुतिरुपं युगलं भवति । अन्ये त्वाहुः, दंडकैः शक्रस्तवादिभिः स्तुतियुगलेन च समयभाषया स्तुतिचतुष्टयेन च रुढेन मध्यमा ज्ञेया बोद्धव्या, तथा संपूर्णा परिपूर्णा सा च प्रसिद्धदंडकैः पंचभिः स्तुतित्रयेण प्रणिधानपाठेन च भवति चतुर्थस्तुतिः किलार्वाचीनेति किमित्याह उत्कृष्यते इत्युत्कर्षा- दुत्कृष्टा।

इदं च व्याख्यानमेके "तिण्णि वा कड्ढई जाव, थुइओ तिसिलोइया। ताव तत्थ अणुण्णायं कारणेण परेण वी" त्येतां कल्पभाष्यगाथां 'पणिहाणं मुत्तसुत्तीए' इति वचनमाश्रित्य कुर्वंति अपरेत्वाहुः पंचशक्रस्तवपाठोपेता संपूर्णेति विधिना पंचविधाभिगम प्रदक्षिणात्रयपूजादिलक्षणेन विधानेन ॥ खलु वाक्यालंकारे अवधारणे वा तत्प्रयोगं च दर्शयिष्यामः वंदना चैत्यवंदना त्रिविधा त्रिभिः प्रकारैः त्रिप्रकारैरेव भवतीति।

भावार्थ : नमस्कार करके '**सिद्ध मरुयमणिंदिय.... सिरसा**' इत्यादि पाठपूर्वक नमस्कार स्वरुप करणभूत करके (अर्थात् नमस्कार स्वरुप करण द्वारा) किए जानेवाले नमस्कार से जघन्य वंदना होती है। पाठ एवं क्रिया अल्प होने से वंदना जघन्य होती है, यह जानें।

उत्कृष्टादि तीन भेद से चैत्यवंदना तीन प्रकार की है, ऐसा कहकर भी जघन्य वंदना को प्रथम कहने में कोई दोष नहीं। क्योंकि, वह आदि शब्द प्रकारार्थ है। इस प्रकार प्रथम जघन्य वंदना कही गई है।

तथा अरिहंत चेइयाणं इत्यादि दंडक व स्तुति प्रतीत है। इन दोनोंका युगल दंडक स्तुति युगल है। प्राकृत होने के कारण प्रथमा एक वचन या तृतीया एक वचन का लोप जानें। पाठ एवं क्रिया मध्यम होने से यह वंदना मध्यमा जानें।

यह व्याख्यान कल्पभाष्य की गाथाको आश्रयी करता है। यह गाथा इस

प्रकार है...

निस्सकडमनिस्सकडे, वावि चेइए सव्वहिं थुइ तिण्णि।
वेलं व चेइयाणि, विणाओ एक्कक्किया वा वि ॥

(गाथार्थ पूर्ववत्)

जिस कारणसें दंडक के अंतमें एक स्तुति कही जाती है, (उससे) इस प्रकार दंडक स्तुति रुप युगल होता है।

अन्य ऐसा कहते हैं कि, शक्रस्तवादि पांच दंडक व स्तुति युगल द्वारा सिद्धांत भाषा को लेकर, चार स्तुति करके जो चैत्यवंदना की जाए, वह मध्यम चैत्यवंदना जानें। (२)

तथा संपूर्ण परिपूर्ण, वह प्रसिद्ध पांच दंडक, तीन स्तुति व प्रणिधान पाठ करके होते हैं। चौथी थोय अर्वाचीन है, इसलिए ग्रहण नहीं की है। तो क्या हुआ? यह उत्कृष्टी चैत्यवंदना होती है। (३)

यह व्याख्यान कोई एक '**तिन्निवा**' इस कल्पभाष्यकी गाथा को '**पणिहाणं मुत्त सुत्तिए**' इस वचन के आश्रयमें करता है।

अन्य कोई ऐसा कहता है कि, पंचशक्रस्तव पाठ सहित सम्पूर्ण चैत्यवंदना होती है। विधिपूर्वक पांच अभिगम, तीन प्रदक्षिणा, पूजादि स्वरुप विधान करके। 'खलु' शब्द वाक्यालंकार है। वा अवधारणार्थक है। इनका प्रयोग आगे बताया जाएगा। इस प्रकार चैत्यवंदना के तीन प्रकार हैं।

....

उपरोक्त पंचाशक के पाठ का सार यह है कि,

(१) कुछ व्यक्ति कल्पभाष्यकी गाथा के अनुसार मध्यम चैत्यवंदनाका स्वरुप, पंचदंडक तथा चार थोय कहने से मानते है।

(२) कुछ व्यक्ति पंचदंडक, तीन थोय प्रणिधान पाठ सहित कहने से उत्कृष्ट चैत्यवंदन मानते हैं।

(३) कुछ व्यक्ति पांच शक्रस्तव, आठ थोय की चैत्यवंदना एवं पांच अभिगम, तीन प्रदक्षिणा, पूजादि संयुक्त, इसे उत्कृष्ट चैत्यवंदना मानते है।

उपरोक्त तीनों मत पू.आ.भ.श्री अभयदेवसूरिजीने बताए हैं। परन्तु तीनों मत में से पू.आ.भ.श्रीने स्वयं को कौन सा मत स्वीकार है और कौना सा नहीं, इस विषय में कुछ नहीं कहा है।

इसलिए पू.आ.भ.श्री अभयदेवसूरिजी ने अपने मत से चतुर्थ स्तुति को अर्वाचीन नहीं कहा है। **परन्तु किसी अन्य के मत से कहा है। उन्हें स्वयं तो चैत्यवंदन महाभाष्य ग्रंथमें चैत्यवंदन-देववंदनमें जो विधि और चैत्यवंदन के जो प्रकार दर्शाए गए हैं, वे उसी स्वरुप में स्वीकार हैं।**

प्रश्न : ऐसा आप किस आधार पर कहते हैं ?

उत्तर : पू.आ.भ.श्री अभयदेवसूरिजी स्वयं पंचाशक प्रकरण की वृत्तिमें एक प्रश्नके उत्तरमें जो कहते हैं, उसके आधार पर कहता हूं। यह निम्नानुसार है।

"तथा संवेगादिकारणत्वादशठसमाचरितत्वाज्जीतलक्षणस्येहा-पद्यमानत्वाच्चैत्यवन्दनभाष्यकारादिभिरेतत्करणस्य समर्थितत्वाच्च तदधिकतरमपि तन्नाऽयुक्तम्। न च वाच्यं भाष्यकारादिवचनान्य-प्रमाणानि, तदप्रामाण्ये सर्वथाऽऽगमानवबोधप्रसङ्गात्॥"

भावार्थ : (सूत्र में चैत्यवंदन एक ही प्रकार का कहा गया है, तो चैत्यवंदन के जघन्य, मध्यम तथा उत्कृष्ट तीन भेद क्यों दर्शाए गए हैं ? इस पूर्वपक्षको उपरोक्त पाठ से पू.आ.भ.श्री अभयदेवसूरिजी जवाब देते हैं...)

'संवेग आदि का कारण होने से तथा अशठ पुरुषों ने मान्य करके आचरण में रखा होने से जीत व्यवहार के लक्षण से युक्त होने के कारण व चैत्यवंदन भाष्यकार आदि ने समर्थन किया होने से अधिकतर भी चैत्यवंदन के (भेद) अयुक्त नहीं।

आपको यह भी नहीं कहना कि, भाष्यकार आदि के वचन अप्रमाणित है। क्योंकि, उनके वचनोंको अप्रमाणभूत मानने से आगम शास्त्रों का बोध भी किसी

प्रकार से नहीं हो सकेगा।'

....

- **पू.आ.भ.श्री अभयदेवसूरिजी को चैत्यवंदन महाभाष्यकार के वचन मान्य हैं। इसलिए भाष्यकार द्वारा प्ररुपित चैत्यवंदन के नौ प्रकार तथा चतुर्थस्तुतिका समर्थन भी मान्य है ही। यह स्वयमेव सिद्ध हो जाता है। इसलिए पू.आ.भ.श्री अभयदेवसूरिजी चतुर्थस्तुति को अशठ पुरुषों द्वारा मान्य होने से जीत व्यवहार के लक्षण से युक्त मानते हैं। जेसे आगम वचन मान्य हैं, वैसे ही अशठ पुरुषों द्वारा आचरित जीत व्यवहार भी मान्य है ही।**
- **यहां पाठकों को यह भी ध्यान में लेना चाहिए कि, पू.आ.भ.श्री अभयदेवसूरिजी जिस चैत्यवंदन महाभाष्य को सर्व प्रकार से प्रमाणभूत मानते हैं और इसके बावजूद भाष्यमें कही गई चार थोय व आठ थोय की चैत्यवंदना को छोडकर तीन थोय से उत्कृष्ट चैत्यवंदना होती है और चौथी थोय नई है। ऐसा प्रचार उनके नाम से करना मिथ्याभिनिवेश पूर्वक असत्य प्रलाप नहीं तो और क्या है?**
- भाष्यकार परमर्षि स्पष्टतया चार तथा आठ थोय की चैत्यवंदना के विधान प्रतिपादन करते हैं और पू.आ.भ.श्री अभयदेवसूरिजी उसे प्रमाणभूत मानते हैं। ऐसी स्थितिमें कौन सुज्ञ व्यक्ति कहेगा कि, पू.आ.भ.श्री अभयदेवसूरिजीने चतुर्थस्तुति नवीन कही है? पू.आ.भ.श्री ने तो मात्र इसका उल्लेख किया है और उसमें भी '**चतुर्थस्तुतिः किलार्वाचीन**' इस प्रकार 'किल' शब्दप्रयोग करके अन्य की बात में अपनी अरुचि जाहिर की है।

प्रश्न: पू.आ.भ.श्री अभयदेवसूरिजीने 'किल' शब्द का प्रयोग करके चतुर्थ स्तुतिमें अरुचि जाहिर की है कि अन्य व्यक्ति चतुर्थ स्तुति को नवीन मानते हैं, उसमें अरुचि जाहिर की है?

उत्तर : पू.आ.भ.श्री अभयदेवसूरिजी महाराजने 'किल' शब्द प्रयोग द्वारा अन्य की बात में अरुचि जाहिर की है। परन्तु चतुर्थ स्तुति में अरुचि जाहिर नहीं की हैं। क्योंकि, पू.आ.भ.श्री चैत्यवंदन भाष्यकार द्वारा प्रतिपादित चार व आठ थोय की चैत्यवंदना को मान्य रखते हैं। अर्थात् भाष्यकार परमर्षिने चतुर्थ स्तुति का प्रतिपादन एवं चतुर्थ स्तुतिकी विहितता-उपयोगिता सिद्ध की है, जो पू.आ.भ.श्री अभयदेवसूरिजीने मान्य की है। इसलिए 'चतुर्थ स्तुति नवीन है'- अन्य की इस बात में ही अरुचि जाहिर की है।

प्रश्न : पू.आ.भ.श्री अभयदेवसूरिजी के 'चतुर्थ स्तुतिः किलार्वाचीन' इस पंचाशक के प्रवचनमें कहे गए 'किल' शब्द प्रयोग की चर्चा करते हुए आ.भ.श्री यतीन्द्रसूरिजीने 'श्री सत्यसमर्थक प्रश्नोत्तरी' पुस्तक के पृष्ठ-२५ पर लिखा है कि,

'**चतुर्थ स्तुति किलार्वाचीन**' में किल शब्द के कोश तथा शास्त्रोमें अनेक अर्थ मिलते हैं। परन्तु यहां प्रकरणवश निश्चय, अरुचि एवं संभावना ये तीन अर्थ ग्रहण किए गए हैं। शिष्ट परम्परा विलासी एवं सत्यप्ररुपक अभयदेवाचार्यने चौथी स्तुतिको निश्चय से अर्वाचीन लिखी और उसके करनेवालों के प्रति हार्दिक अरुचि प्रकट की है। इसी प्रकार देव स्तुति के प्रचारकी संभावना प्रकट की है कि, संभव है चौथी देवस्तुति नवीन ही है, प्राचीन नहीं। यदि यह प्राचीन होती तो संभावना क्यों की जाती ?

इसी प्रकार '**तीर्थकोटराजी के अनुचित लेख का समुचित उत्तरदान पत्र**' इस पुस्तक के लेखकश्री ने लिखा है कि,

'पूर्वाचार्य नवांगवृत्तिकारक-श्रीमद् अभयदेवसूरिजी महाराज पंचाशक सूत्र वृत्ति में 'चतुर्थ स्तुतिः किलार्वाचीना' इस वाक्यमें (किल) अव्यय का जितना अर्थ व्याकरण कोश या जैनशास्त्रों में किया गया है तिन सर्व अर्थ से चोथी थुई अर्वाचीन (नवीन) ही सिद्ध होती है।'

इन दोनों लेखकोंकी बातों के विषय में आप क्या कहना चाहते हैं ?

उत्तर : उपरोक्त दोनों लेखकों के लेख सत्यविरोधी हैं। क्योंकि, '**किल**' शब्द प्रयोग की चर्चा सत्यविरोधी है। प्रथम लेखकने '**किल**' शब्द का 'निश्चय' अर्थ भी किया है, यह व्याकरण-कोष से विरुद्ध है।

दूसरे लेखक ने भी '**किल**' का निश्चय अर्थ निकालकर ही '**चतुर्थ स्तुतिः किलार्वाचीन**' पंक्ति का अर्थ किया है। इसलिए वह भी व्याकरण कोश से विरुद्ध है। क्योंकि.....

अमरकोश में '**किल**' शब्द के दो अर्थ बताए गए हैं। '**किल संभाव्यवार्तयोः**' वार्ता एवं संभावना, दो अर्थ में '**किल**' शब्द का प्रयोग होता है।

कलिकाल सर्वज्ञ पू.आ.भ.श्री हेमचंद्रसूरिजीने **अनेकार्थ संग्रहमें** लिखा है कि........

'**वार्ता-संभाव्ययोः किल, हेत्वरुच्योरलीके च**'-'**किल**' शब्द का प्रयोग वार्ता, संभावना, हेतु, अरुचि व असत्य इन पांच अर्थ में होता है।

इस प्रकार अमरकोश-अनेकार्थ संग्रहमें '**किल**' शब्द का 'निश्चय' अर्थ किया ही नही गया है। इसलिए उपरोक्त दोनों लेखकों की बात असत्य है।

हालांकि, त्रिस्तुतिक मत के लेखक मुनि श्री जयानंदविजयजी ने '**किल**' शब्द का अर्थ अनेकार्थ संग्रह के आधार पर ग्रहण किए हैं। परन्तु इसके बावजूद भी पंक्ति का अर्थ अपनी मान्यता के अनुसार किया है।

प्रश्न : मुनिश्री जयानंदविजयजी ने वर्तमानमें चार थोय के एक महापुरुष पू.आ.भ.श्री राजशेखरसूरिजी महाराजाके लेख का एक मजबूत प्रमाण तीन थोय के समर्थन में प्रस्तुत किया है, इसके लिए आपके पास कोई उत्तर है।

उत्तर : हां, बिलकुल है।

विद्वद्वर्य पू.आ.भ.श्री विजय राजशेखरसूरीश्वजी महाराजाने पंचाशक प्रकरण के अपने भाषान्तर में भाग-१, पृष्ठ-१८० पर टिप्पणी में जो लिखा है, उस टिप्पणी के लेख से विरोधी लेख मुनिश्री जयानंदविजयजीने '**अंधकार से प्रकाश की ओर**' पुस्तक के पृष्ठ-२३ पर लिखा है और (अपनी मान्यतामें अवरोधक बनती होने से) पू.आ.भ.श्री द्वारा लिखित टिप्पणी का कुछ हिस्सा इरादापूर्वक छोड़ दिया है।

सर्वप्रथम हम मुनिश्री जयानंदविजयजी ने अपने उस पुस्तक के पृष्ठ-२३ पर पू.आ.भ.श्री विजय राजशेखरसूरिजी का जो अभिप्राय ग्रहण किया है वह देखें और इसके बाद पू.आ.भ.श्रीने अपने भाषान्तरमें क्या लिखा है, यह देखेंगे।

'**अंधकार से प्रकाश की ओर**' पृष्ठ-२३...

और इसके नीचे टिप्पणी में लिखा है-पू.अभयदेवसूरिजीने '**चतुर्थ स्तुतिः किलार्वाचीन**' इस प्रकार किल शब्द का प्रयोग करके चतुर्थ स्तुति के प्रति अपनी अरुचि प्रकट की। पू.आचार्य हेमचंद्रसूरिजी म.सा.ने अनेकार्थ संग्रहमें कहा है कि '**वार्ता संभाव्योः किल हेत्वरुच्योरलीके च**' (वार्ता, संभावना के लिए, अरुचि, असत्य इन पांच अर्थों में किल शब्द का प्रयोग किया जाता है।)

लेखकश्री ने उपरोक्त लेख में '**किल शब्द का प्रयोग करके चतुर्थ स्तुति के प्रति अपनी अरुचि प्रकट की**'

यह बात पू.आ.भ.श्री राजशेखरसूरिजी के नाम से लिखी है किन्तु यह असत्य है। क्योंकि, पू.आ.भ.श्री ने ऐसा लिखा ही नहीं है। क्या लिखा है यह नीचे देखने को मिलेगा। (लेखक मुनिश्री जयानंदविजयजी के उपरोक्त लेख में शाब्दिक भूलें भी हैं। किन्तु फिलहाल उन पर चर्चा नहीं करेंगे, पू.आ.भ.श्री राजशेखरसूरिजी द्वारा अनुवादित पंचाशक भाषान्तर भाग-१, पृष्ठ-१८० की टिप्पणीका शब्दशः पाठ....

"तथा पू.अभयदेवसूरिजी महाराज ने '**चतुर्थ स्तुतिः किलार्वाचीना**' इस प्रकार '**किल**' शब्द का प्रयोग करके तीन स्तुति के मत के प्रति अपनी अरुचि व्यक्त की है। पू.आचार्य श्री हेमचंद्रसूरिजी महाराज ने अनेकार्थ संग्रह में कहा है कि, '**वार्ता संभाव्ययोः किल हेत्वरुच्योरलीके च**' वार्ता, संभावना, हेतु, अरुचि व असत्य इन पांच अर्थोमें '**किल**' शब्द का प्रयोग होता है।"

कहने का आशय यह है कि, '**चतुर्थ स्तुतिः किलार्वाचीना**' पद की प्रस्तुति करते हुए पू.आ.भ.श्री अभयदेवसूरिजीने '**किल**' शब्द का प्रयोग अन्य की बात के प्रति अरुचि करने के लिए किया है। अर्थात् किसी की मान्यता है कि, '**तीन थोय ही प्राचीन है व चौथी थोय नवीन है**'- इस अन्य की बात में अपनी अरुचि पू.आ.भ.श्री अभयदेवसूरिजीने '**किल**' शब्द से दर्शाई है। इससे अन्य वादी जो तीन थोय को ही मानने का रवैया रखता था, उसके प्रति अरुचि प्रकट की है। अर्थात् तीन थोय के मत के प्रति अरुचि प्रकट की है। **पू.आ.भ.श्री अभयदेवसूरिजी चैत्यवंदन महाभाष्य को सभी प्रकार से मान्य रखते हैं। इसमें दर्शाई गई चार-आठ थोय की चैत्यवंदना भी उन्हें मान्य है ही।(यह हम पूर्व में देख ही चुके हैं।)**

पाठक, दोनों लेख पढकर तय कर पाएंगे कि, मुनिश्री जयानंदविजयजी ने पू.आ.भ.श्री राजशेखरसूरिजी के अर्थ में जोड़-तोड़ की है या नहीं ? तथा मुनिश्री ने पू.आ.भ.श्री की पुस्तककी बाद की टिप्पणी को ग्रहण नहीं किया, जो निम्नानुसार है।

'तथा चैत्यवंदन महाभाष्य गाथा-७७२-७७३-७७४ तथा संघाचार भाष्य गाथा-३५की वृत्ति आदि प्राचीन ग्रंथोके आधार पर भी चार थोय का समर्थन होता है।'

लेखक मुनिश्री जयानंदविजयजीने अपनी '**सत्य की खोज**' पुस्तक के पृष्ठ-८७ पर प्रश्न-३३० में भी अपने ढंग से अपनी मान्यता पुष्ट करने के लिए पंचाशक के पाठ की चर्चा की है। यह भी उपरोक्त विचारणा से असत्य सिद्ध

होती है।

लेखकश्रीने प्रथम पुस्तक के पृष्ठ २३-२४-२५ पर जो चर्चा की है, वह भी असत्य सिद्ध होती है।

लेखक मुनिश्री जयानंदविजयीने चैत्यवंदन महाभाष्य का कही भी उल्लेख तक नहीं किया है। क्योंकि, वह ग्रंथ उनकी मान्यता का खंडन करता है। पू.आ.भ.श्री अभयदेवसूरिजीको चैत्यवंदन महाभाष्य ग्रंथ मान्य है। उनके इस अंतरंग अभिप्राय को ताक पर रखकर त्रिस्तुतिक मत के लेखकों ने पंचाशक वृत्ति के पाठ को अपनी मान्यता के समर्थन में संदर्भ रहित आगे किया है। इसलिए उनकी प्रस्तुति शास्त्र विरोधी एवं सुविहित परम्परा से विरुद्ध है और इसीलिए असत्य है।

इस प्रकार त्रिस्तुतिक मतवालों ने अपनी मान्यता के समर्थन में जिन पंचाशकवृत्ति का 'तीसरा' पाठ पेश किया है, यह भी उनके मत को सिद्ध नहीं कर पाता है। बल्कि त्रिस्तुतिक मान्यता का खंडन करता है और चतुर्थ स्तुति का ही समर्थन करता है।

इस प्रकार त्रिस्तुतिक मतवाले अपनी मान्यता में जिस व्यवहार भाष्य की 'तिन्निवा' गाथा, बृहत्कल्पभाष्यकी 'निस्सकड' गाथा को आगे करते हैं, उससे उनका मत सिद्ध नहीं होता बल्कि इन गाथाओं से ही उनके मत का खंडन हो जाता है। पंचाशक प्रकरण का पाठ भी त्रिस्तुतिक मत के प्रति ही अरुचि दर्शाता है।

प्रश्न: सम्यग्दृष्टि देवताओं के पास समाधि एवं बोधि मांगी जा सकती है ? यदि उनके पास समाधि-बोधि मांगी जा सकती है, तो क्यों मांगी जाए ? क्या देवता समाधि-बोधि देने में समर्थ हैं ? उनसे प्रार्थना करने से सम्यक्त्व मलीन नहीं होगा ?

उत्तर: सम्यग्दृष्टि देवताओं से समाधि-बोधि मांगी जा सकती है और वे बोधि-समाधि देने में समर्थ हैं। क्योंकि, वे समाधि-बोधिकी प्राप्तिमें अंतराय

भूत विघ्नों का नाश करने में समर्थ हैं। उनके समक्ष ऐसी प्रार्थना करने से सम्यक्त्व मलीन नहीं होता। क्योंकि, किसी भी शास्त्रमें ऐसा उल्लेख देखने को नहीं मिलता।

प्रश्न : आपकी इस बात को सिद्ध करनेवाला कोई शास्त्रीय उल्लेख है सही ?

उत्तर : हां, इन सभी बातों का खुलासा पू.आ.भ.श्री **रत्नशेखरसूरिजीने** श्राद्ध प्रतिक्रमणसूत्रकी **अर्थदीपिका** टीका में वंदित्ता सूत्र की **४७ वीं** गाथा के '**सम्मदिट्ठि देवा**' पद के विवरण में विस्तार से पूर्वोत्तर पक्ष की रचना द्वारा किया है। यह पाठ इस प्रकार है।

"तथा सम्यग्दृष्टयः - अर्हत्पाक्षिक देवा देव्यश्चेत्येकशेषाद्देवाः धरणेन्द्राम्बिकायक्षादयो 'ददतु' प्रयच्छन्तु 'समाधिं' चित्तस्वास्थ्यं, समाधिर्हि मूलं सर्वधर्माणां स्कन्ध इव शाखानां शाखा वा प्रशाखानां पुष्पं वा फलस्य बीजं वाऽङ्कुरस्य, चित्तस्वास्थ्यं विना विशिष्टानुष्ठानस्यापि कष्टानुष्ठानप्रायत्वात्, समाधिश्चाधिव्याधिभिर्विधूयते, तन्निरोधश्च तद्धेतुकोपसर्गनिवारणेन स्यादिति तत्प्रार्थना, 'बोधिं' परलोके जिनधर्म-प्राप्तिं, यतः "सावयघरंमि वर हुज्ज चेइओ नाणदंसणसमेओ । मिच्छत्तमोहिअमई मा राया चक्कवट्टीवि ॥१॥"

कश्चिद्ब्रुते-ते देवाः समाधिबोधिदाने किं समर्था न वा ? यद्य-समर्थास्तर्हि तत्प्रार्थनस्य वैयर्थ्यं, यदि समर्थास्तर्हि दूरभव्याभव्येभ्यः किं न यच्छंति ? अथैवं मन्यते योग्यानामेव समर्था नायोग्यानां, तर्हि योग्यतैव प्रमाणं किं तैरजागलस्तनकल्पैः ? अत्रोत्तरं, सर्वत्र योग्यतैव प्रमाणं, परं न वयं विचाराक्षमनियतिवाद्यादिवदेकान्तवादिनः, किन्तु सर्वनय-समूहात्मकस्याद्वादवादिनः, 'सामग्री वै जनिके' ति वचनात्, यथा हि घटनिष्पत्तौ मृदो योग्यतायामपि कुलालचक्रचीखरदवरक दण्डादयोऽपि सहकारिकारणमेवमिहापि जीवस्य योग्यतायां सत्यामपि तथा तथा

प्रत्यूहव्यूहनिराकरेण देवा अपि समाधिबोधिदाने समर्थाः स्युः, मेतार्यस्य प्राग्भवमित्रसुर इवेति फलवती तत्प्रार्थना, ननु देवादिषु प्रार्थनाबहुमानादिकरणे कथं न सम्यक्त्वमालिन्यम् ?, उच्यते, नहि ते मोक्षं दास्यतीति प्राथ्र्यन्ते बहु मन्यन्ते वा, किन्तु धर्मध्यानकरणेऽन्तरायं निराकुर्वन्तीति, न चैवं कश्चिद्दोषः, पूर्वश्रुतधरैरप्याचीर्णत्वादागमोक्तत्वाच्च, उक्तश्चावश्यकचूर्णौ श्रीवज्रस्वामिचरित्रे

- "तत्थ य अब्भासे अन्नो गिरी तं गया, तत्थ देवयाए काउस्सग्गो कओ, सावि अब्भुट्ठिआ, अणुग्गहत्ति अणुन्नाय" मिति, आवश्यककायोत्सर्गनिर्युक्तावपि

चाउम्मासिअ वरिसे उस्सग्गो खित्तदेवयाए अ ।
पक्खिअ सिज्जसूरीए करंति चउमासिए वेगे ॥१॥"

बृहद्भाष्येऽपि

"पारिअ काउस्सग्गो परमिट्ठीणं च कयनमुक्कारो ।
वैयावच्चगराणं दिज्ज थुई जक्खपमुहाणं ॥१॥"

प्रकरणकृतः श्रीहरिभद्रसूरयोऽप्याहुर्ललितविस्तरायां

"चतुर्थी स्तुतिवैयावृत्यकराणा" मिति, तदेवं प्रार्थनाकरणेऽपि न काचिदयुक्तिरिति सप्तचत्वारिंशगाथार्थः- ॥४७॥

भावार्थ : (अब वंदित्ता सूत्र की ४७वीं गाथा के उतरार्धकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि,)

(मेरी धर्माराधनामें कोइ विघ्न न आए और मेरी आराधना अखंड रुप से आत्मकल्याण करनेवाली बने ऐसी शुभभावना से श्रावक सम्यग्दृष्टि देवों से प्रार्थना करें कि,)

हे ! अरिहंत परमात्मा के पक्ष करनेवाले सम्यग्दृष्टि धरणेन्द्र, अंबिका, यक्षा आदि देव-देवी ! मुझे चित्त की स्वस्थता रुप समाधि एवं परलोक में जिनधर्म प्रास करानेवाली बोधि दें।

जैसे सर्व शाखाओं का मूल स्कन्ध (थड़) है। छोटी शाखाओं का मूल जैसे मुख्य शाखाएं है, फल का मूल जैसे पुष्प है और पुष्प तथा अंकुर का मूल बीज है। इसी प्रकार सभी धर्मानुष्ठानों का मूल चित्तकी स्वस्थता रुप समाधि है। (क्योंकि, चित्तकी स्वस्थता के योग से आत्मा का कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक जीवंत रहता है। इसके योग से कर्तव्यमें प्रवृत्ति के लिए हंमेशा तत्पर रहता है। चित्तकी अस्वस्थता हो तो वैसे प्रकार का विवेक जीवंत नहीं रहता इसके योगसे कर्त्तव्यमें (धर्मानुष्ठानोंमें) प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इसलिए चित्तकी स्वस्थता धर्मानुष्ठान का मूल है।) व चित्त की स्वस्थता बिना कैसा भी धर्मानुष्ठान हो, तो भी वह कष्ट क्रिया तुल्य है। कायक्लेश का कारण बनता है। (अर्थात् चित्त की स्वस्थता के बिना धर्मानुष्ठान से यथार्थ आत्मकल्याण नहीं होता। **आत्मामें कुशल संस्कारों का सिंचन होना और कुसंस्कारोंका सानुबंध परिहास होना व उसके योग से आत्मा की मोक्ष तरफी गति तीव्र बनना, यह यथार्थ आत्मकल्याण है। चित्तकी स्वस्थतापूर्वक किया गया धर्मानुष्ठान ही आत्मस्पर्शी एंव सातत्यपूर्ण बनता है। आत्मस्पर्शी व सातत्यपूर्ण अनुष्ठान ही सुसंस्कारो का सिंचन करता है और कुसंस्कारो का नाश करता है। इसके योग से यथार्थ आत्मकल्याण होता है। इसलिए धर्मानुष्ठानमें चित्तकी स्वस्थ समाधि अत्यंत आवश्यक है।)**

चित्त की स्वस्थता का नाश करनेवाले उद्देश आधि-व्याधि इत्यादि हैं। आधि-व्याधि-उपाधि का निरोध हो तो चित्तकी स्वस्थता अच्छी रहती है। इन आधि-व्याधि-उपाधि का निरोध भी तब ही होता है कि, जब उसमें कारणभूत उपसर्गों का निवारण हो। अर्थात् उपसर्गोंके निवारण द्वारा (चित्तस्वस्थता का नाश करनेवाले) आधि-व्याधि-उपाधि आदि कारणों का निरोध होता है और चित्त समाधि प्राप्त होती है। इस प्रकार यहां सम्यग्दृष्टि देवताओं से जो समाधि की प्रार्थना की जाती है, वह समाधिमें उपर दर्शाए अनुसार विघातक उपसर्गों का निवारण करने की अपेक्षा से की जाती है।

(इस प्रकार) परभव में जिनधर्म की प्राप्ति स्वरुप बोधि मुझे प्राप्त हो। ऐसी भी प्रार्थना करनी है। अर्थात् हे सम्यग्दृष्टि देव ! मुझे समाधि एवं बोधि प्रदान करें। ऐसी भावना आत्मकल्याण चाहनेवाला आत्मा की होती है। (क्योंकि, आत्मकल्याण चाहनेवाले जीवों के हृदय में ऐसी भावना रमती है कि,)

'श्रावक के घरमें सम्यग्ज्ञान व सम्यग्दर्शन सहित दासत्व (भावांतर में) मुझे प्राप्त हो मैं उसे उत्तम मानता हूं। परन्तु मिथ्यात्व से मोहित है मति जिसकी ऐसा चक्रवर्ती-राजपाट मुझे स्वीकार्य नहीं।'

शंका : श्रावक सम्यग्दृष्टि देवों से समाधि तथा बोधि की प्रार्थना करते हैं। तो क्या सम्यग्दृष्टि देवता समाधि एवं बोधि देने के लिए समर्थ भी हैं अथवा नहीं ?

यदि ये सम्यग्दृष्टि देवता समाधि-बोधि देने में समर्थ नहीं तो फिर उनसे प्रार्थना करना निरर्थक है।

और यदि ये सम्यग्दृष्टि देवता समाधि-बोधि देनेमें समर्थ हैं, तो वे अभव्य तथा दुर्भव्य को क्यों समाधि नहीं देते ?

यदि ऐसा कहेंगे कि, जो योग्य जीव होते हैं, उन्हें ही सम्यग्दृष्टि देवता समाधि-बोधि देने में समर्थ होते हैं, अयोग्य अभव्य-दुर्भव्य जीवों को देने में नहीं।

तो फिर समाधि-बोधि की प्राप्ति में योग्यता ही प्रमाणभूत है अर्थात् योग्यता ही कारण है। बकरी के गले के आंचल समान देवों के समक्ष प्रार्थना करने की क्या जरुरत है ?

समाधान : सभी जगह योग्यता ही प्रमाण है-मुख्य कारण है, परन्तु विचार करने में असमर्थ (अर्थात् शास्त्र एवं युक्ति से अयोग्य) नियतिवादी आदि जैसे हम एकांतवादी नहीं। परन्तु नैगमादि सभी नयों के समूह रुप अनेकांतवाद को माननेवाले अनेकांतवादी हैं। (अर्थात् हमारा सर्वकथन अनेकांत के आधार पर होता है, एकांतवाद के आधार पर नहीं) और इसलिए इसी अपेक्षा से वस्तुमें

योग्यता होने के बावजूद निमित्त कारण सामग्री मिले तब ही कार्य की उत्पत्ति होती है। जैसे कि, घड़ा बनाना हो तो मिट्टी में घड़ा बनने की योग्यता होने के बाबजूद कुम्हार, चक्र, दंड, डोरी आदि सहयोगी (निमित्त) कारण की सामग्री भी घड़ा बनाने में आवश्यक है। इसी प्रकार भव्यात्मा में समाधि तथा बोधिलाभ की योग्यता होने के बावजूद उसकी प्राप्तिमें आनेवाले विघ्नों के समूह को दूर करने की जरुरत है। (जो भव्यजीव सोपक्रम कर्म के उदयवाले हों उन जीवों के) विघ्नों को दूर करने की सम्यग्दृष्टि देवताओं में शक्ति है।

श्री मेतार्य मुनिवर को पूर्वभव के मित्र देवने जैसे सहायता की थी, उसी प्रकार यहां भी समझना है और उसी प्रकार उसी अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि देवों से की जानेवाली प्रार्थना सफल मानी जाती है।

शंका : देवोंसे समाधि एवं बोधिलाभ के लिए प्रार्थना करें और उसी प्रकार देवों का सन्मान करें, यह क्या सम्यक्त्व की मलीनता का कारण नहीं ?

समाधान : सम्यग्दृष्टि देवों से जो प्रार्थना की जाती है, वह मोक्ष सुख देने की अपेक्षा से नहीं की जाती बल्कि मोक्षप्राप्ति के लिए जो धर्मध्यान किया जाता है। उस धर्मध्यानमें आनेवाले विघ्नों को दूर करने की अपेक्षा से की जाती है। और इस प्रकार देवों से प्रार्थना करने में सम्यक्त्व की मलीनता आदि कोई दोष लगनेकी संभावना नहीं होती । पूर्व के श्रुतधर परमर्षियोंने इसी प्रकार का आचरण किया है तथा आगममें भी इसी प्रकार प्रार्थना करने की बात कही गई है।

श्री आवश्यकचूर्णिमें श्री वज्रस्वामीजीके चरित्र में कहा गया है कि... 'श्री वज्रस्वामीजी महाराजा निकटस्थ एक पर्वत पर गए और क्षेत्र (देवता)का कायोत्सर्ग किया। क्षेत्रदेवताने भी उपस्थित होकर (बोले कि मुझ पर बड़ा) अनुग्रह-उपकार किया, (आप सुखपूर्वक यहां बिराजें ऐसी) अनुज्ञा प्रदान की आदि।'

आवश्यक सूत्र के कायोत्सर्ग अध्ययन की निर्युक्ति में कहा गया

है कि...

'चातुर्मासिक तथा वार्षिक प्रतिक्रमण में क्षेत्रदेवताका तथा पाक्षिक प्रतिक्रमणमें भवनदेवता का कायोत्सर्ग किया जाता है। कुछ साधु चातुर्मासिक प्रतिक्रमणमें भी भवनदेवता का कायोत्सर्ग करते हैं।'

बृहद्भाष्य में भी कहा गया है कि,

'कायोत्सर्ग करके परमेष्ठि को नमस्कार करके वैयावच्च करनेवाले सम्यग्दृष्टि यक्ष आदि देवों के लिए स्तुति बोलें।'

(जैनशासनमें प्रकरण ग्रंथो की भेंट देनेवाले) प्रकरण कर्ता श्रीहरिभद्रसूरिजी महाराजाने भी ललित विस्तरा ग्रंथ में कहा है कि,

'(देववंदन में) चौथी स्तुति वैयावच्च करनेवाले यक्ष-यक्षिणी आदि सम्यग्दृष्टि देवों की होती है।'

इस प्रकार आगममें दिए गए प्रमाणों से सिद्ध होता है कि, सम्यग्दृष्टि देवों से समाधि-बोधिलाभ की प्रार्थना करने में कुछ भी अयोग्य नहीं।

इस प्रकार ४७वीं गाथा का अर्थ है ॥४७॥

....

- उपरोक्त श्राद्ध प्रतिक्रमण सूत्र की पू.आ.भ.श्री रत्नशेखरसूरिजी कृत 'अर्थदीपिका' टीका में स्पष्ट कहा गया है कि,

सम्यग्दृष्टि देवताओं से समाधि-बोधि मांगी जा सकती है। इसमें कोई दोष नहीं है। सम्यक्त्व भी मलीन नहीं होता।

सम्यग्दृष्टि देवता बोधि-समाधि देने समर्थ हैं। सहयोगी कारण हैं।

जैसे श्री मेतार्य मुनिवर को पूर्वभव के मित्र देवने सहायता दी थी, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि देवता भी सहायता करते हैं। इसलिए उनकी प्रार्थना सार्थक हैं।

आवश्यकचूर्णिमें श्री वज्रस्वामीजी महाराजाने क्षेत्रदेवता का कायोत्सर्ग करके क्षेत्रदेवता की सहायता प्राप्त की थी ऐसा उल्लेख है। यह

दर्शाता है कि, देव-देवीयों के कायोत्सर्ग करने में कोई दोष नहीं है।

बृहद्भाष्य में सम्यग्दृष्टि देव-देवी के कायोत्सर्ग करने तथा उनकी स्तुति करने को कहा गया है।

ललित विस्तरा ग्रंथ में चतुर्थस्तुति को विहित एवं उपयोगी बताया गया है।

देव-देवी के कायोत्सर्ग व उनकी स्तुति पूर्व श्रुतधरोंने की तथा आगम में भी कही गई है

प्रश्न : मुनिश्री जयानंदविजयजी '**सत्य की खोज**' पुस्तक के पृष्ठ-१०२,१०३ पर सम्यग्दृष्टि देवता से समाधि-बोधि मांगने में क्या दोष है ? इस प्रश्न के उत्तरमें सम्यग्दृष्टि देवता से समाधि-बोधि मांगने से इनकार करते हैं तो उनकी यह बात उचित है ?

उत्तर : नहीं, उनकी बात शास्त्रविरोधी हैं । क्योंकि, श्राद्ध प्रतिक्रमण सूत्र की अर्थदीपिका टीका तथा वृंदारुवृत्ति में; सम्यग्दृष्टि देवताओं से समाधि-बोधि मांगनें में कोई दोष नहीं बताया गया है। श्राद्ध प्रतिक्रमण सूत्र की 'अर्थदीपिका'में सभी खुलासे किए गए है। ये हम उपर देख चुके हैं। किन्तु लेखकश्री यह मानने को तैयार नहीं। इसलिए अपनी पुस्तकों में कुतर्क प्रस्तुत करते हैं। तथा **परमतेज पुस्तक** के अंशो को इस विषय में गलत तरीके से घटाने की कोशिश की है। मात्र इस परमतेज पुस्तक के पृष्ठ-२८६ पर देवता से वितरागता एवं मोक्ष की मांग कैसे करें ? इतनी ही बात की गई है। परन्तु धर्मध्यानमें आनेवाले विघ्नों को टालने के लिए सम्यग्दृष्टि देवताओं की सहायता मांगने से इनकार नहीं किया गया है। **स्मरण रहे कि 'परमतेज' पुस्तक के लेखक पू.आ.श्री भुवनभानुसूरिजी चतुर्थ स्तुति को माननेवाले थे।**

हमने उपर जो श्राद्ध प्रतिक्रमण सूत्र की अर्थदीपिका की टीका देखी, उसके विषय में मुनिश्री जयानंदविजयजी ने उसी पुस्तक के पृष्ठ-१०३,१०४के अंतिम पेरेग्राफ में निरर्थक कुतर्क किए हैं। सत्य स्वीकार नहीं करना हैं और

असत्य छोड़ने की तैयारी नहीं है, उसी की यह निशानी है। **टीकाकार परमर्षिने अत्यंत स्पष्ट रुपमें शंका के समाधान किए हैं । फिर भी मुनिश्री जयानंदविजयजी इस विषयमें कुतर्क करते हुए लिखते हैं कि,**

"और रत्नशेखरसूरीश्वरजीने भी मोक्ष मांगने का निषेध किया है। उनके समयमें भी 'सम्मदिट्ठी देवा दिन्तु समाहिं च बोहिं च' पद का निषेध करनेवाले होंगे तभी तो उन्होंने इस पद की टीका में लिखा है कि 'कश्चिद् ब्रुते के देवाः समाधि बोधि दधाने किं समर्था न वा' इत्यादि प्रश्न करके इस पद की सिद्धि के लिए उत्तर देकर अंत में 'नैव कश्चिद् दोषः' इसमें कोई दोष नहीं ऐसा लिखा है। इसका अर्थ यही होता है कि उनके समय में भी इस पद का निषेध करनेवाले थे। इस पद की सिद्धि में जो मेतारज ऋषि का दृष्टांत दिया गया है, तो क्या मेतारज ऋषिने कभी भी देवता से समाधि-बोधि के लिए प्रार्थना की है ? ऐसा कोई उल्लेख है ? पूर्व भवके दिए गए संकेत के कारण देव ने आकर उनको भाव से जागृत किया है, इस प्रकार कहीं प्रत्येक देव से समाधि-बोधि मांगनेका नियम नहीं है।"

मुनि श्री जयानंदविजयजी की आग्रही मनोदशा तथा शास्त्रकार परमर्षियों के विधानों में भी घातकशैली से कुर्तक करने की रीति पाठकगण उपरोक्त लेख से समझ सकेंगे।

कोई व्यक्ति किसी शास्त्रीय बात का निषेध करनेवाला है, उससे शास्त्रीय बात अशास्त्रीय नहीं बन जाती। शास्त्रकार सभी शंकाओ के समाधान देते ही हैं और इससे शास्त्रीय बातें स्पष्ट होती हैं। शंकाकार थे, इसीलिए समाधान करना पड़ा और इसीलिए समाधान अधूरा माना जाए, उसे निर्विकल्प ढंग से स्वीकार नहीं कर लिया जाए, ऐसी बात सुज्ञजन नहीं कर सकते, अज्ञानी कदाग्रही लोग ही कर सकते हैं।

- ३६३ पाखंडी भी भगवान की बात का विरोध करते थे। इसलिए भगवान

गलत तो नहीं थे।

- भगवान जैसे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी का विरोध करनेवाले जमालि जैसे अनेक थे। इसलिए कहीं भगवान गलत नहीं थे। **जो कदाग्रही व अप्रज्ञापनीय हों वह भगवान से भी नहीं मानते और जो निराग्रही तथा प्रज्ञापनीय हों, वे ग्रंथकार परमर्षि के एक शास्त्रवचन से भी असत्य से वापस आ जाते हैं।**
- यदि आप ऐसा कहते हों कि, जिसका विरोध हुआ हो वह निर्विकल्प स्वीकार नहीं किया जा सकता और उसकी पुष्टि नहीं की जा सकती, तो आपके प्रदादागुरु श्री राजेन्द्रसूरिजीने असत्य त्रिस्तुतिक मत का पुनरोद्धार किया, तब पू.आत्मारामजी म. आदि अनेक महापुरुषों ने विरोध किया था। तो फिर आप अपने प्रदादागुरु की बात की पुष्टि करने के लिए इतनी महेनत क्यों कर रहे हो? ऐसी दोहरी नीति क्यों अपना रहे हो?

प्रश्न : जिस बात का विरोध हुआ हो और उससे उस बात को सिद्ध करना पड़ता हो, तो वह बात निर्विकल्प कैसे स्वीकार की जा सकती है?

उत्तर : आपका प्रश्न ही उचित नहीं है। क्योंकि, जिस बात का विरोध हुआ हो, वह स्वीकार नहीं की जा सकती, ऐसी जो आपकी मान्यता है तो,

- **वस्तुकी अनंत धर्मात्मकता को क्यों स्वीकारते हो ?** क्योंकि अन्य दर्शनकारों ने उसका विरोध किया है?
- **शब्दको पुद्गल क्यों मानते हो ?** क्योंकि, नैयायिकों ने उसे पुद्गलके रुपमें स्वीकार नहीं किया। बल्कि आकाश के गुण स्वरुप स्वीकार किया है।
- **अंधकार को पुद्गल का परिणाम क्यों मानते हो ।** अंधकार को तो वैशेषिक-नैयायिकोंने 'तैजस्'के अभाव के रुपमें स्वीकार किया है। पुद्गल के परिणाम के तौर पर विरोध किया है।

- **चक्षु को अप्राप्यकारी क्यों मानते हो ?** क्योंकि, नैयायिकों आदि ने उसका विरोध कर चक्षु को प्राप्यकारी माना है।
- **आत्माको परिणामी नित्य क्यों मानते हो ?** क्योंकि, नैयायिक आदि दर्शनोंने उसका विरोध किया है। नैयायिकादि ने उसका विरोध कर आत्माको कूटस्थ नित्य माना है। और बौद्धोंने आत्माको एकांत से अनित्य माना है।
- **दिगंबरों ने वेश, स्त्री मुक्ति एवं केवलज्ञानी को कवलाहार का विरोध किया है। जिसका विरोध हुआ हो, वह निर्विकल्प तरीके से नहीं स्वीकार किया जा सकता, ऐसी आपकी मान्यता है, तो आप वेश का त्याग करोगें; स्त्री की मुक्ति मत मानो न ? और केवलज्ञानी को कवालाहार का निषेध बताओगे न ?**
- **स्थानकवासी व तेरापंथियोंने ३२के अलावा आगमोंका विरोध किया है, तो आप भी ३२के अलावा आगमों को निर्विकल्पता से मत स्वीकारो न ?**
- **तेरापंथी एवं स्थानकवासियों ने जिन प्रतिमा का विरोध किया है।** इस लिए आप भी उनकी तरह जिन प्रतिमा को निर्वकल्पता से स्वीकार न करो न ?
- **स्थानकवासी तथा तेरापंथियोंने पंचांगी का विरोध किया है।** तो आप पंचांगी को क्यों मानते हो ? क्योंकि, जिसका विरोध हुआ हो, वह निर्विकल्प ढंग से नहीं माना जा सकता, ऐसा आपका सिद्धांत आपकी पुस्तकों में आपने जगह-जगह बताया है।

इसलिए जिसका विरोध हुआ हो वह माना ही नहीं जा सकता है, उसे निर्विकल्पता से नहीं ही स्वीकारा जा सकता, ऐसा कहना उत्सूत्र है।

शास्त्रकार परमर्षिने जो पदार्थ जिस प्रकार सिद्ध किया हो और पूर्व श्रुतधर आदि महात्माओंने उसे उसी प्रकार आचरण किया हो, वह सबको

निर्विकल्पता से मान्य करना ही चाहिए । ऐसा पू.आ.भ.श्री रत्नशेखरसूरिजी कृत 'अर्थदीपिका' टीका का सार है । सम्यग्दृष्टि देवताओं से की जानेवाली प्रार्थना आगमों में कही है और पूर्व श्रुतधर महर्षियों ने आचरण में ली है, इसलिए वह मान्य ही करना चाहिए ।

सम्यग्दृष्टि देवताओं से 'अर्थदीपिका' टीका के टीकाकारश्री ने मोक्ष मांगने से मना किया है, यह बात सही है । परन्तु मोक्षप्राप्ति के कारणभूत धर्मध्यानमें आनेवाले अंतरायों का नाश करने के लिए सम्यग्दृष्टि देवताओं से प्रार्थना करने का निषेध नहीं किया है ।

पू.आ.भ.श्री रत्नशेखरसूरिजीने युक्ति-दृष्टांत एवं आगम वचन से सम्यग्दृष्टि देवताओं की समाधि-बोधि देने की समर्थता बताई है, फिर भी उस ओर दृष्टि किए बिना मुनि जयानंदविजयजी कदाग्रहवश उसी पुस्तकके पृष्ठ-१०५ पर लिखते हैं कि,

"रागी द्वेषी देव के पास समाधि-बोधि देने की शक्ति नहीं । और जो दे नहीं सकते उनसे मांगने का प्रयत्न विफल होता हौ । आगमों में ऐसा कोई दृष्टांत नहीं मिलता कि जिसमें किसीने समाधि-बोधि मांगी हो और उस देवने उसे समाधि-बोधि दी हो ।

इन देवों से समाधि-बोधि मांगने से तीर्थंकर भगवंतो की लघुता होती है । 'दितुं समाहिं च बोहिं च' अर्थात् तीर्थंकर और सम्यग्दृष्टि देव दोनों समान हो जाते हैं, इस प्रकार तीर्थंकर भगवंत की लघुता होती है, जो बड़े से बड़ा दोष है ।"

- **उपरोक्त लेख में लेखक मुनिश्री जयानंदविजयजीने पू.आ.भ.श्री रत्नशेखरसूरिजी से खुद को अधिक बुद्धिमान दर्शाने का प्रयत्न करते हुए अनेक कुतर्क किए हैं । परन्तु जैसे सूर्य के सामने धूल फेंकने से उसका तेज नहीं ढंक जाता है । वैसे ही कुतर्क करने से शास्त्रकार परमर्षियों के सूर्य के तेज समान टंकशाली वचन निस्तेज (असत्य) सिद्ध नहीं होते । पाठक सोचें कि, पू.आ.भ.श्री**

रत्नशेखरसूरिजी सच्चे कि इस पुस्तक के लेखक।

- वंदित्ता के सूत्रकार पू. श्री श्रुतस्थवीर भगवंत और टीकाकारश्री को देवों से समाधि-बोधि मांगने में कहीं भी तीर्थकरों की लघुता दिखाई नहीं दी, जबकि लेखकश्री को लघुता दिखाई देती है। ऐसा लगता है कि यह प्रप्रदादागुरुकी कृपा का ही फल है।
- टीकाकारश्रीने श्रीमेतारज मुनिवरका दृष्टांत दिया है, जिसे मानने में आनाकानी करनी है तथा नए दृष्टांत मांगने हैं ? विचित्र स्थिति है न ?
- **क्या आवश्यकचूर्णि में श्री वज्रस्वामीजी महाराजाने क्षेत्रदेवताकी सहायता नहीं मांगी ?**
- **क्या श्री वज्रस्वामी महाराजाने शासनरक्षा-प्रभावनार्थ फूल लाने के लिए देव-देवीकी सहायता नहीं मांगी थी ?**
- **क्या कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचंद्रसूरिजीने देव-देवीकी सहायता नहीं मांगी ?**
- **क्या शत्रुंजय का उद्धार करने के लिए श्री वज्रस्वामीजीने नूतन कपर्दियक्ष की सहायता नही मांगी ?**
- **क्या कलिकाल सर्वज्ञश्रीने श्रुतसाधना आगे बढाने के लिए सरस्वतीदेवीकी साधना करने हेतु कश्मीरकी ओर विहार नहीं किया था ?**
- **क्या पू.महोपाध्याय श्रीयशोविजयजी महाराजाने काव्य, न्याय आदि के साहित्य सर्जन के लिए सहायता प्राप्त करने हेतु सरस्वती देवीकी साधना नहीं की ?**

ऐसे अनेक दृष्टांत शास्त्रों के पृष्ठें पर दर्शाए गए हैं। लेकिन लेखकश्री को ये दिखाई नहीं देते।

- उनकी तीन पुस्तिकाओं देखने पर ऐसा लगता है कि, उन्होंने अपनी मान्यता को सिद्ध करने के लिए शास्त्रपाठों के अर्थघटनमें काफी मशक्क़त

की है। ऐसे कदाग्रह के कारण ही वे सत्य को प्राप्त नहीं कर सके। यही मशक्क़त यदि सत्य को समझने की होती तो अपने मतकी मान्यताएं कितनी असत्य हैं, यह समझमें आ गया होता।

प्रश्न : इन सब दृष्टांतोमें समाधि-बोधि की मांग कहां है ? ये अन्य मांगो के दृष्टांत हैं। समाधि-बोधि की मांग के कोई दृष्टांत हो तो दीजिए ?

उत्तर : उपरोक्त सभी दृष्टांतो में ते ते महापुरुषों ने देव-देवी से की गई विभिन्न मांगो तथा अन्य स्थलों पर शास्त्रों में दर्शाए सुविहित महापुरुषोंके दृष्टांत व उनकी देव-देवियों से की गई मांगे भी अंततः तो समाधि-बोधि की मांग के समान ही हैं। क्योंकि,

ते ते महापुरुषों ने देव-देवियों से जो मांगें की हैं। वे स्व-पर की आराधना को निराबाध बताने के लिए ही हैं और शासन की प्रभावना व रक्षा के लिए की हैं।

जब तक अंतराय हो, उपद्रव हो तथा उपसर्ग हों, तब तक धर्म आराधना निर्मल-निराबाध एवं वेगमान नहीं बन सकती। धर्म आराधना में अत्यंत आवश्यक उपशमभाव नहीं टिक सकता और इस कारण धर्म आराधना आत्मस्पर्शी, सुसंस्कारो की सर्जक, कुसंस्कारो की नाशक और इसलिए परभव का सामान नहीं बन सकती। अर्थात् उपद्रव आदि की हाजरीमें समाधि प्राप्त नहीं होती और इससे परभव में धर्म की प्राप्ति स्परुप बोधि का सर्जन नहीं हो सकता।

इसलिए आराधनामें आनेवाले अंतराय-उपद्रव-उपसर्ग दूर करना अत्यावश्यक है। किन्तु हमारे पास उन्हें दूर करने का सामर्थ्य नहीं। उस समय सम्यग्दृष्टि देव-देवीकी सहायता ली जाती है। क्योंकि, उनके पास उपद्रवादि को दूर करने की दैवी शक्ति है।

जैसे किसी श्रावक को आर्थिक-पारिवारिक परेशानी हो और दूर करने का स्वयं में सामर्थ्य न हो और उसके योग से ही आराधना न हो सकती हो तो वह श्रावक अन्य अच्छे परोपकारी व समर्थ श्रावक से सहायता मांगता है। वैसे ही

अंतराय आदि के कारण आराधना सिद्ध न होती हो और उन अंतरायों को दूर करने का स्वयं में सामर्थ्य न हो, तब साधक उपद्रव आदि को शांत करने के लिए सम्यग्दृष्टि देव-देवी से सहायता मांगता है। क्योंकि, सम्यग्दृष्टि देव-देवी उपद्रवों को शांत करने में समर्थ हैं।

(वैसे तो परोपकारी श्रावक अन्य श्रावकको मुश्किलों व उनके कारण आराधना में आनेवाली अडचनो को देखने के बाद बिना मांगे ही सहायता करता है। परन्तु किसी भी कारणवश श्रावक की दृष्टि वहां तक न जाए, तो मुश्किलों से घिरे श्रावकको अपनी आराधना आगे बढाने के लिए अन्य परोपकारी श्रावकको सहायता मांगने में कोई संकोच नहीं होता है। वैसे ही देव भी सच्चे साधक को मदद करते ही हैं। परन्तु वर्तमानमें कालदोष के कारण अच्छे कार्योंमें बार बार विघ्न होने के कारण तथा कालदोष के कारण देवों का उपयोग नहीं जाता होने से उनके पास प्रतिदिन सहायता मांगी जाती है, यह जीवानुशासनमें कहा गया है।)

इस प्रकार विविध महापुरुषों ने स्वपर की आराधना को वेगवान बनाए रखने के लिए दैवी सामर्थ्यवाले देव-देवीयों से जो भी सहायता मांगी थी, वे मांगे वास्तवमें तो समाधि-बोधिको ही मांगे है।

शासनप्रभावना द्वारा अनेक लोग जैनशासन प्राप्त करते हैं। अर्थात् कालांतर में जैनशासन की निरवद्य तथा मोक्षप्रापक धर्माराधनाओं को प्राप्त करते हैं। शासनरक्षा से भव्यात्माओं की धर्माराधना निर्मल रहती है। ऐसी आराधनाओं में मोक्षप्रापकता एवं संसारनाशकता टिकी रहती है और संसारवृद्धि का भय टल जाता है। यहां भी महापुरुषों ने उन मांगोंमें अंततःतो समाधि-बोधि की ही प्रार्थना की है। यह सहज ही समझा जा सकता है।

लेखक मुनिश्री जयानंदविजयजी एक ओर सम्यग्दृष्टि देव-देवीयों से समाधि-बोधि, विघ्नोपशमन, मांगने से इनकार करते है और दूसरी ओर दीक्षादि में देव-देवी के कायोत्सर्ग तथा उनकी स्तुति बोलने को

स्वीकार करते हैं। यह दोहरी नीति नहीं तो और क्या हैं ?

दीक्षा की विधिमें प्रारम्भ में जो देववंदना होती है और उसमें छठवां कायोत्सर्ग श्रुतदेवताकी आराधना के लिए होता है। कायोत्सर्ग के बाद श्रुतदेवता की स्तुति भी बोली जाती है और उसमें श्रुतदेवतांको 'तुभ्यं नमः' कहकर नमस्कार भी किया जाता है।

सातवां कायोत्सर्ग शासनदेवता का होता है। इसमें भी स्तुति बोली जाती है। इसमें 'आप जल्दी से समीहित (इच्छित) दों,' ऐसी मांग की जाती है।

आठवें कायोत्सर्गमें समस्त वैयावच्चकारी देवताओं का कायोत्सर्ग होता है और वहां भी स्तुति बोली जाती है। इसमें शांति की मांग की गई है।

लेखकश्री को दीक्षा में श्रुतदेवतादि का कायोत्सर्ग करना तथा स्तुति करना मान्य है और प्रतिक्रमण में मान्य नहीं। यह किस घर का न्याय है, यह उन्हें स्पष्ट करना चाहिए।

हालांकि लेखकश्रीने अनुष्ठानों के शास्त्र निरपेक्ष मिथ्या काल्पनिक भेद करके उपर दर्शाई आपत्तियों को टालने का पुरुषार्थ किया है। परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। उपर से और अधिक फस गए हैं। उन्होंने अनुष्ठानोके द्रव्यानुष्ठान तथा भावानुष्ठान ये दो भाग जिस तरह से किए हैं। उस तरह इन भेदों को शास्त्रों का कोई समर्थन ही नहीं। इस प्रकारके भेद, अपने मतका येन केन प्रकार से पोषण करने की आग्रहदशा से दूषित स्वमति कल्पना की ही उपज है।

पू.आ.भ.श्री हरिभद्रसूरिजीने योगदृष्टि समुच्चय ग्रंथ में दीक्षा (प्रव्रज्या) को ज्ञानयोग की प्रतिपत्ति स्वरुप बताया है। अर्थात् भावानुष्ठान के स्वरुपमें ही बताया है। प्रव्रज्या को अतात्त्विक सामर्थ्य योग भी कहा है। क्योंकि, प्रव्रज्या के स्वीकार के समय मुमुक्षु का भावोल्लास इतने उत्कट कोटि का होता है, कि उस समय आत्मा का सामर्थ्य काफी बढ़ गया होता है। (वह मात्र केवलज्ञान तक नहीं ले जाता। इसलिए उसे अतात्त्विक कहा गया है। सामर्थ्ययोग का फल केवलज्ञान

है। उस फल का उस समय अभाव है। इसलिए वह अतात्त्विक है।) अतात्त्विक होने के बावजूद सम्यग्दर्शन की प्राप्ति-निर्मलता एवं यावत् चारित्र का परिणाम पैदा कर देता है।

इसलिए लेखकश्रीने दीक्षा स्वयं भावानुष्ठान होने के बावजूद दीक्षा को द्रव्यानुष्ठान में खपाकर उपरोक्त आपत्तियों को टालने का अपनी दोनों पुस्तकों में प्रयत्न किया है, जो शास्त्रविरोधी है।

इस प्रकार '**सत्य की खोज**' पुस्तक के प्रश्न-३४३ का उत्तर शास्त्र एवं शास्त्रकारों व भगवान की आशातना करनेवाला है।

इसेक अलावा लेखक मुनिश्री जयानंदविजयजी ने 'सत्य की खोज' पुस्तक के प्रश्न-३२३-३२४के उत्तर में जो बातें की हैं उन बातों का भी उपरोक्त चर्चा से खंडन हुआ जानें।

प्रश्न: 'सत्य की खोज' पुस्तक के लेखक मुनिश्री जयानंदविजयजी महावीर परमात्माके चरित्र को याद कराके देव-देवी से सहायता मांगने से मना करते हैं, यह सही है ?

उत्तर : लेखकश्री की बात बिलकुल असत्य है। कदाग्रह की विकृतियों की यह उपज है। उनकी बात की असत्यता को देखते हुए पहले वे इस पुस्तकमें क्या कहते हैं यह देखें।

'सत्य की खोज' पुस्तक के पृष्ठ-७८-७९ पर प्रश्न-३२३ के उत्तरमें मुनिश्री जयानंदविजयजीने लिखा है कि,

"साधु बनना अर्थात् कर्म क्षय के लिए मोह राजाके सामने युद्ध करना यह अन्तरंग युद्ध है। बाह्य युद्ध में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिकी सहायता कर सकता है, लेकिन अंतरंग युद्ध में कोई भी दूसरा व्यक्ति सहायता नहीं कर सकता यह अटल (ध्रुव) नियम है। जहां कोइ व्यक्ति सहाय कर ही नहीं सकता हो, तो यहां किसी की सहायता मांगने का कोई प्रयोजन नहीं होता।

जो यह कहते है कि संयमपालनमें विघ्नादि दूर करने के लिए सहायता

मांगनी चाहिए, वे महावीर परमात्मा के जीवन चरित्र को अच्छी तरह देखें। वहां कर्म क्षय के लिए किसीकी भी सहायता काममें नहीं आयी, ऐसा स्पष्ट समझ में आ जायेगा।''

उपरोक्त लेखमें मुनिश्री जयानंदविजयजीने मात्र कुतर्क किए हैं। निश्चयनय की बातें करने बैठ गए हैं। निश्चयनय की अपेक्षा से तो भाववृद्धि में, कर्म से लड़ने में विघ्नों को टालने में किसी भी आलंबन की जरुरत नहीं। न तो अरिहंत परमात्माके आलंबन की जरुरत है और न अन्य किसी अनुष्ठान के आलम्बन की जरुरत है। **अंतरंग युद्ध प्रारम्भ से निश्चयनय का आलंबन लेकर नहीं लड़ा जाता, यह याद रखने की जरुरत है।**

कर्म के विरुद्ध आंतरिक युद्ध लड़ने के लिए बाह्य आलंबनो (परमात्मा की प्रतिमा, आगम, परमात्मा द्वारा प्ररुपित प्रतिक्रमणादि अनुष्ठान तथा साधर्मिको की सहायता आदि बाह्य आलंबनो) की प्रथम आवश्यकता है। बाह्य आलंबनो का सेवन करके आत्मा बलवान बनने के बाद किसी भी आलंबन के बिना स्वयं आंतरिक युद्ध कर सकता है, कर्मो का क्षय कर सकता है।

साधक अनेक की सहायता लेकर साधना मार्गमें आगे बढते हैं। साक्षात् परमात्मा विचरण करते हों तो परमात्माकी सहायता लेते हैं। मोक्ष मार्ग को समझने के लिए आगम की सहायता लेते हैं। जहां मानवशक्ति काम न कर सकती हो, वहां सम्यग्दृष्टि देव-देवीकी सहायता लेते हैं। प्रत्येक स्थल पर सहायता लेने का उद्देश्य मात्र मोक्षप्राप्ति का ही होता है। मोक्षप्राप्ति के लिए धर्म सामग्री प्राप्त करनेका उद्देश्य होता है और धर्मसामग्री जिससे प्राप्त हो वह पुण्यानुबंधी पुण्यका उद्देश्य होता है।

लेखक मुनिश्री जयानंदविजयजीने महावीर परमात्माके जीवन चरित्र को स्मरण करने की सिफारिश की है। यदि परमात्मा का ही अनुसरण करना हो तो लेखकश्री को मारवाड़ के विकट मार्गों से गुजरने के लिए भोमियो नहीं रखना

चाहिए।

परमात्माने इन्द्र महाराजा से कहा है कि, 'अरिहंत किसी की सहायता से केवलज्ञान प्राप्त नहीं करते।' उसमें अरिहंतो के लिए यह बात कही गई है। अन्य साधकों के लिए नहीं। अर्थात् 'कोई भी साधक किसी की भी सहायता से केवलज्ञान प्राप्त नहीं करता।' ऐसा परमात्माने इन्द्र महाराजासे नहीं कहा था। केवलज्ञान प्राप्त करने से पहले सामर्थ्य योग प्राप्त करना पड़े और सामर्थ्ययोग प्राप्त करने के लिए शास्त्रयोग प्राप्त करना पड़े। शास्त्रयोगकी भूमिका तथा शास्त्रयोग की प्राप्ति के लिए इच्छायोग प्राप्त करना पड़े। इच्छायोग में प्रशस्त इच्छाएं करनी हैं। इसमें शास्त्रयोगकी प्राप्ति की उत्सुकता होती है। इसमें शास्त्रयोग प्राप्तिके लिए साधक तत्वोकी मांग होती है। बाधक तत्वो का नाश करने का उद्देश्य होता है। इसके लिए अरिहंत परमात्मा, साधु भगवंत, साधर्मिक तथा साधर्मिक सम्यग्दृष्टि देव-देवीयों की सहायता मांगनी होती है।

इसी अपेक्षा से श्राद्धप्रतिक्रमण सूत्रकी टीका, जीवानुशासन, १९वां पंचाशक, ललित विस्तरा, चैत्यवंदन महाभाष्य आदि अनेक ग्रंथोमें देव-देवियों के कायोत्सर्ग करना और उनकी थोय कहने के लिए कहा गया है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि देव-देवी से समाधि-बोधि, कर्मक्षय, सम्यग्ज्ञान व यावत् मोक्ष मांगने की बात की गई है। (मोक्ष कैसे मांगा जाता है? इस प्रश्नका उत्तर आगे देखेंगे।)

- **इस प्रकार परमात्मा का अनुकरण नहीं किया जा सकता। परमात्मा ने जो कहा हो वैसा करना होता है।** परमात्मा अर्थ से द्वादशांगी की प्ररुपणा करते हैं। पू.गणधर भगवंत परमात्माकी कृपा प्राप्त करके द्वादशांगी को सूत्र में पिरोते हैं। श्रुत स्थवीर भी पू.गणधर भगवंत द्वारा विरचित द्वादशांगी का आलंबन देकर सूत्रोंकी रचना करते हैं। परमात्मा के हाथोंसे दीक्षित हुए साधु १४,००० थे। इन सभी साधु भगवंत ने एक-एक

पयन्नाकी रचना की थी। इसमें एक '**आराधना पताका**' पयन्ना है। इसमें श्रुतदेवी को नमस्कार किया गया है। यह पाठ इस प्रकार है।

"जाव दिट्ठि दाणमित्तेण देई पणईण नर सुर समिद्धि सिव पुररज्झ आणा रयाण देवीए तीए नमो ॥१॥"

भावार्थ : यदि दृष्टि प्रसन्न करे तो नमे हुए लोगों को नर-सुर समृद्धि देते हैं। श्री अरिहंत परमात्मा की आज्ञा पालनमें रक्त आत्माओं को मोक्षमार्गमें आनेवाले विघ्नों का नाश कर मोक्ष का राज देनेवाली श्रुतदेवी को नमस्कार।

इस प्रकार परमात्मा के समय में भी सम्यग्दृष्टि देव-देवियों को नमस्कार किया जाता था। यहां साधु श्रुतदेवी को नमस्कार करते हैं, इसमें श्रुतदेवी अविरतिधर होने से नमस्कार नहीं होता। किन्तु फिरभी नमस्कार किया गया है। इसका कारण यह है कि, श्रुतदेवी की ज्ञानावरणीय कर्मों के समूह का नाश करने की जो शक्ति है, उस शक्तिकी उपबृंहणा स्वरुप नमस्कार किया गया है। न कि चौथे गुण स्थानकवाले व्यक्ति को नमस्कार किया गया है।

श्रुतदेवी मोक्ष कैसे देती हैं यह आगे देखेंगे।

- लेखक मुनिश्री जयानंदविजयजी ने उपरोक्त लेख के नीचे पृष्ठ-७९ पर श्री मेतार्य मुनिवर, श्री कालकाचार्यजी, श्री भरत चक्रवर्ती, श्री अभयकुमार, श्री कृष्ण महाराजा, सुलसा श्राविका आदि के उदाहरणों को विकृत ढंगसे प्रस्तुत किया है।

आगमों में दैवी सहायता प्राप्त करनेवाले भव्यात्माओं के उदाहरणों का उल्लेख है, यह लेखक को खटका है। इसलिए उदाहरणोंको विकृत ढंग से प्रस्तुत किया है। अपना झूठा आगमप्रेम, आगमद्वेषके रुपमें जाहिर न हो जाए, इसलिए आगमों के इन उदाहरणों का सहारा लेकर उनके आसपास जो घटनाएं बनी थी, उनके उल्लेख भी नहीं किए। साथ ही उन भव्यात्माओं ने किस आशय से दैवी सहायता मांगी थी, यह भी आगम में देखने की जहमत नहीं ली और उन भव्यात्माओं ने जिस आशय से दैवी

सहायता मांगी, वे आशय आगम में लिखे हैं, जो पढ़े हों तो भी अपनी मान्यता में प्रतिबंधक होने के कारण अपनी पुस्तक में उनका उल्लेख नहीं किया। इसके स्थान पर लेखक ने इन भव्यात्माओं की आशातना हो ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है।

देव-देवी से कर्मक्षय एवं मोक्ष नहीं मांगना चाहिए, बल्कि भौतिक सुख मांगे जाते है, ऐसे शास्त्रविरोधी अंतरंग में पड़े, मलीन आशय (कि जो उनकी दोनों पुस्तकों में जगह-जगह देखने को मिलते हैं) उन्हीं महापुरुषों के उदाहरण लेकर सिद्ध करते हुए पृष्ठ-७९ पर लिखते हैं कि,

"अगर इसे गहराई से सोचें तो स्पष्ट समझ में आयेगा कि उन्होंने सांसारिक भौतिक कार्योंके लिए देव को प्रत्यक्ष करने हेतु अट्ठम तप आदि किया है। कोई भी दृष्टान्त कर्मक्षय के निमित्त से देव की याचना का नहीं है।"

- उपरोक्त लेख में लेखकश्री ने महापुरुषोंके आशय की भयंकर आशातना की है। शास्त्रवचनों का गलत अर्थघटन किया है।
- अपनी मान्यता की पुष्टि करने का प्रयत्न किया है। इसलिए कहीं भी शास्त्र सापेक्षता नहीं रही है।

आगममें तीन प्रकार के विधान होते हैं।

१. विधि प्रतिपादक विधान

२. अनुवाद परक विधान

३. फल प्रतिपादक विधान

- फल प्रतिपादक सभी विधान करणीय नहीं होते। मात्र उनमें ते ते कार्य का फल बताया होता है।
- विधि प्रतिपादक सभी विधान करणीय होता हैं।
- अनुवाद परक विधान जानकारियों का संपादन करता हैं।

आगममें और चैत्यवंदन महाभाष्य आदि में भरत चक्रवर्ती आदि महानुभावों के उदाहरण देकर मात्र इतना ही कहा है कि, सम्यग्दृष्टि देव-देवी का

मनः प्रणिधान पूर्वक स्मरण साधना में मदद करता है। इन उदाहरणों में से कुछ उदाहरणों में अपनी समाधि के लिए सहायता मांगी गई है। कुछ स्थलों पर अन्य की समाधि के लिए सहायता मांगी गई है।

जहां सांसारिक पदार्थ मांगे गए है, वहां अविरति की भूमिका है। इन में आगम अथवा अन्य शास्त्रों की सहमति नहीं है। आगम तथा अन्य शास्त्रोंने मात्र अवसर प्राप्त जानकारी के रुप में उल्लेख किया है।

जैसे महावीर परमात्मा के जीवन चरित्रमें त्रिशला माता के शयनखंड का भी वर्णन आता है, उससे ऐसा अर्थ नहीं निकलता कि, प्रत्येक गृहस्थोंको भी वैसा ही शयनखंड बनाना चाहिए।

चरित्रों में जो वर्णन आता है, उसमें जो व्रतपोषक, सदाचारपोषक हो, वह करणीय होता है और शेष करणीय नहीं होता।

लेखकश्री ने पृष्ठ-७९ पर अंतिम पेरेग्राफ में द्रव्य एवं भाव ऐसे मिथ्या एवं काल्पनिक भेद करके माहपुरुषों के उदाहरणों को विकृत ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है वह बिलकुल असत्य है। (इसका खंडन आगे विस्तार से किया गया है उसे देखें।)

मुनिश्री जयानंदविजयजी की दोनों (तीनों) पुस्तकों की प्रत्येक लाइन की समीक्षा की जा सकती है। उनकी लेखन शैली जैनशासनके समक्ष बड़ी चुनौती समान है। सत्य सिद्धांतोके विरुद्ध है। सत्य के नाम से, स्याद्वाद के नाम से असत्य एवं मिश्रणवाद का पोषण करने का काम किया है।

परन्तु लेखन सीमा तथा पाठकों की पढने एवं स्मरण रखने की सीमा के कारण कितना लिखा जा सकता है?

'सत्य की खोज' पुस्तक के पृष्ठ-८० पर प्रश्न-३२४ के उत्तर में मुनिश्री जयानंदविजयजीने अन्य लेखकों के नाम से...

'भक्तवर्ग एकत्र करने के लिए दैवी सहायता मांगना शुरु हुआ, मंत्र

की उपासना शुरु हुई और वह उलटी पड़ने लगी, साथ ही मलीन देवताओं की साधना शुरु हुई उन मलीन देवताओं का जोर बढ़ गया। वीतराग परमात्माकी भक्ति गौण हो गई तथा देव-देवियोंकी पूजादि बढ़ गया है। इसके परिणामस्वरुप परमात्मा की आशातना शुरु हुई।

-इत्यादि जो भयस्थान बताए गए हैं, वे सच्चे हैं, परन्तु उनका उपाय एक ही है कि,

गृहस्थ भौतिक सुख के अर्थी न रहें और साधु मान-सम्मान प्रोजेक्ट, भक्त समूह एकत्र करना आदि प्रवृत्तियों से रुक जाएं और साथ ही मोक्ष के लिए ही धर्मक्रिया करना व मोक्ष के लिए ही धर्म हो, ऐसी प्ररुपणा करना शुरु हो तो इन सभी समस्याओं का हल हो सकता है। इसके लिए विहित चतुर्थ स्तुति की मान्यता को दोष देने की जरुरत नहीं।

- पू.आ.भ.श्री हरिभद्रसूरिजीकृत ललितविस्तरा एवं पू.आ.भ.श्री मुनिचंद्रसूरिजीकृत ललितविस्तरा पंजिका में उचित के विषय में मनः प्रणिधान पूर्वक उपयोग लोकोत्तर शुभ परिणाम का कारण कहा गया है। इन उचितों में श्री अरिहंत परमात्मा, श्रीसिद्ध परमात्मा आदि की तरह सम्यग्दृष्टि देव-देवीको भी ग्रहण किया है। अर्थात् जैसे श्री अरिहंत परमात्मा के विषय में मनः प्रणिधानपूर्वक उपयोग का फल लोकोत्तर शुभ परिणाम की प्राप्ति है। वैसे ही वैयावच्च करनेवाले, समाधि देनेवाले सम्यग्दृष्टि देव-देवी के विषय में किए गए मनः प्रणिधानपूर्वक उपयोग का फल भी लोकोत्तर शुभ परिणाम की प्राप्ति है।

यहां आगे कहा गया है कि, 'आप्त पुरुषों का कथन है कि, वैयावच्च करनेवाले सम्यग्दृष्टि देव-देवी के कायोत्सर्ग करनेवाले को विघ्नोपशम पुण्यबंधादि फल प्राप्त होता है।'

प्रश्न : आपने उपर जो बात की, उसके बारे में ललितविस्तरा का पाठ तो आप देते ही नहीं? बिना पाठ के आपकी बात कैसे मानी जाए?

उत्तर : वह पाठ इस प्रकार है।

ललितविस्तरा ग्रंथ में 'वैयावच्चगराणं०' पद की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि.....

"एवमेतत्पठित्वो (प्र०.... तो) पचितपुण्यसंभारा उचितषूपयोगफलमेतदिति ज्ञापनार्थं पठन्ति - 'वैयावच्चगराणं संतिगराणं सम्मदिट्ठिसमाहिगराणं करेमि काउस्सग्गमि' त्यादि यावद्वोसिरामि।

व्याख्या पूर्ववत्; नवरं वैयावृत्त्यकराणं = प्रवचनार्थं व्यापृतभावानां यथाम्बाकुष्माण्ड्यादीनां, शान्तिकराणां क्षद्रोपद्रवेषु, सम्यग्दृष्टिनां सामान्येनान्येषां, समाधिकराणां स्वपरयोस्तेषामेव स्वरुपमेतदेवैषामिति वृद्धसंप्रदायः। एतेषां संबन्धिनं, सप्तम्यर्थे वा षष्ठी एतद्विषयम् = एतान् (प्र०....एतान्वा) आश्रित्य। करोमि कायोत्सर्गमिति। कायोत्सर्गविस्तरः पूर्ववत् स्तुतिश्च।

भावार्थ : इस प्रकार 'सिद्धाणं बुद्धाणं' सूत्र बोलकर संगृहित किए हुए पुण्यसमूहवाला साधक 'वेयावच्चगराणं' सूत्र बोलता है। जैसे अरिहंत परमात्मा आदि लोकोत्तर शुभ भावके कारण होने से लोकोत्तर शुभ भाव के अर्थी साधक ने पूर्व में उनका मनः प्रणिधान किया था। उसी प्रकार चैत्यवंदना में अब जो वैयावच्चकारी सम्यग्दृष्टि देवका कायोत्सर्ग किया जाता है, वह भी भाववृद्धिमें कारण होने से अर्थात् लोकोत्तर कुशल परिणाम का कारण होने से अरिहंतादि योग्य में जैसे मनः प्रणिधान पूर्व में किया गया वैसे ही यहां भी उचित के विषय में उपयोग रुप मनः प्रणिधान के लिए सूत्र बोला जाता है।

वैयावच्च करनेवाले, शांति करनेवाले, समाधि करनेवाले, सम्यग्दृष्टि सम्बंधी मैं कायोत्सर्ग करता हूं।

व्याख्या पूर्ववत् जानें। 'वैयावच्चगराणं' प्रवचन (जिनशासन) की सेवा, रक्षा, प्रभावना के लिए प्रवृत्तिशील। जैसे की, शासनदेवी अंबिका, कुष्मांडी आदि, 'संतिगराणं' क्षुद्र उपद्रवों में शांति करनेवाले, सम्मदिट्ठि - सामान्यतः

अन्य सम्यग्दृष्टि जो 'समाहिगराणं' स्व परको समाधि करनेवाले हैं। वृद्ध पुरुषों का संप्रदाय है कि, उन सम्यग्दृष्टियों का वह समाधिकरत्व स्वरुप है। **'वैयावच्चगराणं'** आदि पदों को षष्ठी विभक्ति लगी है। इसका अर्थ यह होता है कि, उन वैयावच्चकारी आदि सम्बंधी मैं कायोत्सर्ग करता हूं। अथवा सप्तमी के अर्थ में षष्ठी विभक्ति समझें। तब अर्थ यह होगा कि उन्हें निमित्त मानकर कायोत्सर्ग करता हूं।

....

नोट :

- **उपरोक्त ललिताविस्तरा के पाठमें 'वैयावच्चगराणं' इत्यादि पदों द्वारा स्पष्टरुप से देवता के स्मरणार्थ चतुर्थ स्तुति का समर्थन किया है।**
- **कायोत्सर्ग द्वारा देव-देवी को अपने वैयावच्च आदि कार्यो के लिए जागृत करने का उद्देश्य होता है। ऐसा उपरोक्त पाठ में स्पष्ट रुप से कहा गया है।**
- **उपरोक्त पाठ से यह स्पष्टता भी हो गई है कि, जैसे अरिहंतादि का स्मरण लोकोत्तर कुशल परिणाम का कारण है। वैसे ही वैयावच्चकारी आदि सम्यग्दृष्टि देवताओं का स्मरण भी लोकोत्तर कुशल परिणाम का कारण है। ये सभी भाववृद्धि के कारण होने से स्मरण के लिए योग्य हैं।**
- **'अरिहंत चेइयाणं' इत्यादि पदों से जैसे अरिहंत परमात्मामें उपयोग स्थिर करके मनः प्रणिधानपूर्वक कायोत्सर्ग किया जाता है। वैसे ही 'वैयावच्चगराणं' आदि पदों से भी वैयावच्चकारी आदि सम्यग्दृष्टि देवताओं में उपयोग स्थिर करके मनःप्रणिधानपूर्वक स्मरणार्थ कायोत्सर्ग किया जाता है। इसलिए प्रथम स्तुति की विहितता एवं उपयोगिता की तरह ही चतुर्थ स्तुतिकी भी विहितता एवं उपयोगिता सिद्ध होती है।**

- **यदि चतुर्थ स्तुति अविहित एवं निरुपयोगी - निरर्थक हो, तो 'वेयावच्चगराणं' आदि सूत्रों की रचना क्यों की गई होगी ? और उनका भावार्थ समझाने के लिए ललितविस्तराकारश्री ने क्यों प्रयत्न किया होगा ? यह पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं।**
- **सूत्र रचना एवं सूत्र के तात्पर्यार्थ को बताने का प्रयत्न किया गया है। यह तो साक्षात् दिखाई दे रहा है । इसलिए सम्यग्दृष्टि देव-देवीके कायोत्सर्ग एवं उनकी थोय की विहितता स्वयं सिद्ध हो जाती है।**
- **सूत्रकार परमर्षि निरर्थक प्रवृत्ति नहीं कर सकते और टीकाकार भी असमंजस प्रवृत्ति हो तो उसे आगे नहीं बढा सकते, यह तो सुज्ञजन सहज ही समज सकते हैं।**

प्रश्न : साधक 'वैयावच्चगराणं०' आदि पदों के पाठपूर्वक कायोत्सर्ग तो करे, किन्तु वैयावच्चकारी आदि देवताओं को वह कायोत्सर्ग ज्ञात न हो तो, (अर्थात् यह साधक मुझे दृष्टि में रखकर कायोत्सर्ग करता है, यह ज्ञान न हो तो) कायोत्सर्गकारक साधक को विघ्नोपशम आदि फल कैसे मिल सकते हैं ?

उत्तर : इस प्रश्न का समाधान देते हुए ललितविस्तरा ग्रंथ में कहा गया है कि.....

"(ल. वैयावृत्त्यकर्त्रादिभिरज्ञातेऽपि पुण्यबन्धः) नवरमेषां वैयावृत्त्यकराणां तथा तद्भाववृद्धिरित्युक्तप्रायम् । तदपरिज्ञानेऽप्यस्मात् तच्छुभसिद्धाविदमेव वचनं ज्ञापकम् ।

भावार्थ:- यहां इतना विशेष तौर पर कहना है कि, वैयावच्चकारी आदि सम्यग्दृष्टि देवताओं को प्रस्तुत कायोत्सर्ग द्वारा वैयावच्च, शांति-समाधिकरण का भाव बढता है, यह कथितप्राय: है।

प्रश्न : उन सम्यग्दृष्टि देवों को 'मुझे द्रष्टिमें रखकर कायोत्सर्ग हो रहा है' ऐसा ज्ञान हो ही यह नियम नहीं है। इसलिए संभव है कि साधक द्वारा किए जानेवाले कायोत्सर्ग का ज्ञान भी न हो, तो ऐसी स्थिति में उन्हें

पूर्वोक्त भाव वृद्धि कैसे होगी ?

उत्तर : उन्हें स्व सम्बंधी कायोत्सर्ग का ज्ञान न हो तो भी उस कायोत्सर्ग से कायोत्सर्ग कर्ता को विघ्नोपशम, शुभकर्म बंध इत्यादि फल प्राप्त होता है। इस शुभकर्म के बल से वैयावच्चकारी आदि सम्यग्दृष्टि देव-देवियों में भाव की वृद्धि होना युक्ति संगत है। (जैसे जीव के पुण्य के बल से अन्य लोगों को उसकी सेवा करने का भाव जागृत होता है, यह सिद्ध है। वैसा ही यहां भी समझें।)

प्रश्न : कायोत्सर्गकर्ता के कायोत्सर्ग से विघ्नोपशम, पुण्योपार्जनादि स्वरुप शुभ सिद्ध होते हैं, इसका ज्ञापक कौन है ?

उत्तर : तादृश शुभ की सिद्धि का ज्ञापक वही कायोत्सर्ग प्रवर्तक सूत्र वचन है। यह सूत्रवचन आप्त पुरुष द्वारा उपदिष्ट होने के कारण व्यभिचारी नहीं है। अर्थात् विकल वचन नहीं है।

इसलिए वैयावच्चकारी आदि सम्यग्दृष्टि देवताओं को साधक का उन्हें दृष्टि में रखकर किया गया कायोत्सर्ग भले ही ज्ञात न हो, फिर भी कायोत्सर्ग से शुभ की प्राप्ति होना इस वचन से ही सिद्ध है।

....

नोट : उपरोक्त पाठमें स्पष्ट कहा गया है कि, सम्यग्दृष्टि देवताओंको दृष्टिमें रखकर किया गया कायोत्सर्ग देवताओं को अपने वैयावृत्त्य, शांति-समाधिकरण आदि कर्तव्योंके प्रति अभिमुख बनाता है और इसलिए कायोत्सर्ग सफल है।

उपरोक्त पाठमें (पूर्वोक्त) चतुर्थ स्तुति की सार्थकता बताई गई है। साधकको कर्मनिर्जरा करनी है। इसके लिए साधना को वेगवान रखना है। परन्तु विघ्न साधना में अवरोधक बनते हैं। कार्यसफलता हेतु आवश्यक सामग्री चाहिए। वैसे ही प्रतिबंधक का अभाव भी चाहिए। प्रतिरोधक हाजिर हो तो कारण सामग्री के सद्भाव में भी इष्ट कार्य नहीं किया जा सकता। इसलिए कार्य की कारण सामग्री में प्रतिरोधकाभाव का भी समावेश किया है अर्थात् कार्य के

प्रति प्रतिरोधकभाव भी कारण है। जैसे कि कुंभकार के पास घड़ा बनाने का चक्र, दंड आदि सम्पूर्ण कारण सामग्री है। किन्तु दृष्ट या अदृष्ट प्रतिरोध हाजिर हो तो घड़ा स्वरुप कार्य उत्पन्न नहीं होता। वैसे ही मोक्ष की साधना में तत्पर साधक को साधना की आवश्यक सामग्री मिल गई होने के बाबजूद प्रत्यक्ष या परोक्ष विघ्न हाजिर हो तो मोक्ष की साधना अविरत एवं उल्लासपूर्वक नहीं चल सकती। इससे कर्मनिर्जरा रुपी कार्य सिद्ध नहीं हो पाता।

इसलिए प्रतिरोध समान विघ्नों का नाश करने के लिए साधक द्वारा किया जानेवाला वैयावच्चकारी आदि सम्यग्दृष्टि देव-देवी का कायोत्सर्ग व उनकी स्तुति सार्थक है, निरर्थक नहीं। लाभदायी है हानिकारक नहीं।

प्रश्न : अधिष्ठायक देव-देवी का आदर किया जा सकता है?

उत्तर : अधिष्ठायक देव-देवी परमात्मा के भक्त हैं। शासन के रक्षक हैं। आराधक की सहायता करनेवाले हैं। इसलिए वे अपने साधर्मिक हैं।

जैसे साधर्मिक का सन्मान किया जाता है, वैसे ही अधिष्ठायक देव-देवी का भी आदर किया जा सकता है। जैसे साधर्मिक का सन्मान करने से साधर्मिक के गुणों की अनुमोदना होती है और अनुमोदना का फल प्राप्त होता है। वैसे ही अधिष्ठायक देव-देवी का आदर करने से उनके गुणों की अनुमोदना होती है और उसका फल प्राप्त होता है।

साधर्मिक के गुणों की अनुमोदना से गुणप्राप्ति होती है। वैसे ही अधिष्ठायक देव-देवी के प्रभुभक्ति, शासनसेवा आदि गुणों की उपबृंहणा से गुण प्राप्ति होता है।

जैसे श्रावक-श्राविका की आशातना नहीं करनी है, वैसे ही अधिष्ठायक देव-देवी को भी 'ये तो भोग में लीन हैं, शासन की रक्षा नहीं करते, असंयत-असंयती हैं, रागी द्वेषी हैं, इत्यादि बोलकर उनकी आशातना नहीं करनी है।

इसीलिए पगाम सज्जाय में 'देवाणं आसायणाए, देवीणं आसायणाए०' इत्यादि पाठ द्वारा देव-देवीकी आशातना हुई हो तो साधु

साध्वी को भी माफी मांगनी है।

जैसे अरिहंत परमात्मा का वर्णवाद सुलभबोधित्वकी प्राप्ति में कारणभूत पुण्यकर्म का उपार्जन करता है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि देव-देवीका वर्णवाद (देव-देवी को पूर्वभव के ब्रह्मचर्य पालन का यह फल है, शासनकी सुंदर रक्षा करते हैं, गाढ अविरति कर्मका उदय होने के बावजूद जिनमंदिर में मर्यादा नहीं चूकते, इत्यादि वर्णवाद) भी सुलभबोधित्वकी प्राप्ति में कारणभूत पुण्यकर्म का उपार्जन करता है।

जैसे अरिहंत परमात्माकी आशातना दुर्लभ बोधित्व का कारण है। वैसे ही सम्यग्दृष्टि देव-देवीकी आशातना भी दुर्लभ बोधित्व का कारण है। (जिससे भवांतरमें जिनधर्मकी प्राप्ति सुलभ बने वह सुलभबोधित्व कहा जाता है और जिससे भवांतरमें जिनधर्मकी प्राप्ति दुर्लभ बने वह दुर्लभ बोधित्व कहलाता है।)

प्रश्न : सम्यग्दृष्टि देव-देवी का आदर कैसे करना चाहिए ?

उत्तर : किसी भी उचित व्यक्ति का आदर शास्त्रानुसारी ही करना है। जैसे साधर्मिक का आदर तिलक आदि करके किया जाता है, वैसे ही देव-देवी के लिए भी समझें।

शास्त्रीय प्रणालिका एवं सुविहित परम्परानुसार अधिष्ठायक देव-देवीके लिए निम्नानुसार प्रवृत्ति की जाती है।

- जिनमंदिरमें परिकर सहित परमात्मा बिराजमान हो तो परिकरमें अधिष्ठायक देव-देवी की स्थापना पहले से ही होती है इसलिए स्वतंत्र स्थापना नहीं करनी होती है।
- भगवान परिकर रहित हों तो गभारा के बाहर कोरी मंडपमें अधिष्ठायक देव-देवीकी स्थापना की जाती है।
- देव-देवीकी स्वतंत्र देरी अथवा मंदिर बनाना शास्त्रानुसारी नहीं है।
- घंटाकर्ण, नाकोड़ा भैरव आदिकी स्थापना शास्त्रानुसारी नहीं है। ये देव

सम्यग्दृष्टि हैं, ऐसा शास्त्रों में कहीं उल्लेख नहीं मिलता।

- शास्त्रीय लघुशांतिस्नात्र, बृहद्शांतिस्नात्र आदि पूजनों में अधिष्ठायक देव-देवी, सम्यग्दृष्टि देव-देवी आदि को साधर्मिक के रुप में आमंत्रण दिया जाता है। (वे पूजनों में देव-देवी सहायक तत्त्वके स्वरुपमें स्थापित होते हैं।) इसके अलावा दुष्ट देवों की बलि चढाई जाती है। वे उपद्रव न करें इस उद्देश्य से।
- प्रतिक्रमण की आद्यंत की चैत्यवंदना में स्मरणार्थ देव-देवी का कायोत्सर्ग व उनकी थोय कही जाती है।
- प्रतिक्रमण में ज्ञानकी समृद्धि प्राप्त करने के लिए श्रुतदेवी तथा तीसरे व्रत के पालनार्थ क्षेत्रदेवता का कायोत्सर्ग किया जाता है।
- देववंदन में चौथी थोय सम्यग्दृष्टि देव-देवी की बोली जाती है।
- प्रतिष्ठादि विधियों में शास्त्रोक्त विधि के अनुसार सहायक सम्यग्दृष्टि देव-देवीकी विधियां की जाती हैं।
- सम्यग्दृष्टि देव-देवी सम्बंधी उपरोक्त सभी प्रवृत्तियों का उद्देश्य विघ्नोपशम, समाधि-बोधि लाभ, ज्ञानावरणीय कर्मका क्षय, सभी कर्मोंका क्षय व अंततः मोक्ष होता है। **क्योंकि, जैनशासन में कोई भी प्रवृत्ति केवल मोक्ष के लिए ही की जाती है। मोक्षप्राप्ति में अवरोधक बननेवाले कर्मो का क्षय मांगना अथवा मोक्षप्राप्ति के उपाय मांगना, मोक्ष मांगने के बराबर है।**

उपरोक्त शास्त्रोक्त विधि के अनुसार देव-देवी का औचित्य बना रहे यह योग्य ही है। परन्तु वर्तमानमें उससे जो अतिरेक हो रहा है, वह अयोग्य है। परन्तु इसका कारण विहित देवी-देवका कायोत्सर्ग करना और उनकी स्तुति बोलना नहीं है। बल्कि पूर्व में जो बताई गए हैं वे कारण हैं।

प्रश्न : जीवानुशासन, श्राद्धप्रतिक्रमणसूत्रकी अर्थदीपिका टीका

आदि में सम्यग्दृष्टि देव-देवीसे मोक्ष मांगने से मना किया है। जबकि कुछ स्थलों पर कर्मो का क्षय मांगा है। इसी प्रकार 'आराधना पताका' पयन्ना आदि में मोक्ष मांगा है। इन सभी ग्रंथो की बातों का समन्वय कैसे करना ?

उत्तर : सम्यग्दृष्टि देव-देवी के कायोत्सर्ग व उनकी स्तुति विहित एवं उपयोगी है, यह हमने विस्तार से आगे देखा। उनसे विघ्नोपशम, समाधि-बोधि लाभ, ज्ञानावरणीय कर्मों के समूह का नाश. भी मांगा जा सकता है, यह भी विहित है।

अब मोक्ष मांगना भी विहित है यह देखें।

- जहां ज्ञानावरणीय कर्मोंका नाश मांगा है। वहां मात्र ज्ञानावरणीय कर्मो का नाश ही विवक्षित नहीं है। क्योंकि, ज्ञानावरणीय कर्मोंके नाश से प्राप्त ज्ञान मारक भी बना सकता है, यदि मोहनीय कर्म का क्षयोपशम न हुआ हो तो। मोहनीय कर्म के क्षयोपशमपूर्वक ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम सम्यग्ज्ञान का प्रादुर्भाव करता है। सम्यग्ज्ञान क्रिया को खींच लाता है। क्रिया वीर्यांतराय के क्षयोपशम से प्राप्त होती है। (दर्शनावरणीय कर्म का क्षयोपशम ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जुड़ा ही होता है।) संक्षिप्तमें, चारों घाती कर्मों के नाश के अनुकूल क्षयोपशम यहां मांगा गया है। इसलिए चारों घाती कर्मोंका नाश ही मांगा है और वही मोक्ष की मांग है।
- धर्म क्रिया का फल मोक्ष है। सभी धर्मक्रियाओं का मूल समाधि है। अर्थात् समाधिकी विद्यमानता में धर्मक्रिया आत्मस्पर्शी एवं सातत्यपूर्ण बने तथा इस प्रकार की धर्मक्रिया कर्मों का नाश करे और अंत में मोक्ष प्रदान करे। इस प्रकार समाधि मोक्ष का परम कारण है। इसलिए हेतु-हेतुमद् (फल) भाव से दोनों के बीच कथंचित् अभेद है। इसलिए समाधि की मांग में मोक्ष की ही मांग है। साधक समाधि मांगता है, वह मोक्षप्राप्ति के लिए मांगता है। भौतिक सुख मजे से भोगने के लिए नहीं मांगता।

- वर्तमान जन्ममें मोक्षमार्ग की साधना पूर्ण नहीं होगी। इसलिए अगले जन्ममें भी जिनधर्म की प्राप्ति हो यह साधक की मांग होती है। जिनधर्म व मोक्ष के बीच कारणकार्य भाव है। बोधि व जिनधर्म की प्राप्ति दोनों एक ही है। इसलिए बोधि मांग में भी अभेद उपचार से मोक्ष की ही मांग है।
- प्रत्येक धर्मक्रिया के समय 'मुझे मोक्ष चाहिए, मुझे मोक्ष चाहिए' यह नहीं बोलना होता है। परन्तु सम्यग्दर्शन आदि मोक्षमार्गके उपायोंकी प्राप्ति व उसकी शुद्धि विविध धर्मक्रियाओं के समय मांगी जाती है उसका उद्देश्य रखा जाता है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि, किसी भी क्रिया में मोक्ष का उद्देश्य जीवंत नहीं था। क्योंकि, प्रत्येक धर्मक्रियाके समय अंतिम लक्ष्य तो मोक्ष ही होता है।

इसी प्रकार देववंदन के विषय में सोचें तो श्री अरिहंत परमात्मा, सभी श्री अरिहंत परमात्मा अथवा स्थापना अरिहंत, आगम तथा सम्यग्दृष्टि देव-देवी सम्बंधी कायोत्सर्ग व उनकी स्तुति बोली जाती है। इन चार में से दो में जिनभक्ति है। तृतीय में आगम भक्ति है और चतुर्थमें औचित्य पालन है। (सहायक तत्वों के प्रति औचित्य है।) प्रथम दो में रत्नत्रयीकी मांग है। तृतीय में सम्यग्ज्ञानकी मांग है। चतुर्थमें समाधि-बोधि आदि की मांग है। चारों में अलग-अलग मांग है। फिर भी अंतिम लक्ष्य मोक्ष ही है। इसलिए यह भी कहा जा सकता है कि, चारों कायोत्सर्ग व स्तुति बोलने में लक्ष्य मोक्ष का ही है।

इस प्रकार विचार करने से अलग अलग ग्रंथकारों की अलग-अलग बातों का समन्वय हो जाता है।

जब किसी को प्रश्न होगा कि, तो फिर श्राद्ध प्रतिक्रमणसूत्रकी टीका आदि में मोक्ष मांगने से क्यों रोका गया है?

इसका जवाब यह है कि, प्रत्येक धर्मक्रियामें लक्ष्य मोक्ष होने के बावजूद जिसमें जो देने का सामर्थ्य (शक्ति) हो वह मांगा जाए, तो

औचित्यका अतिक्रमण नहीं होता। जिस स्थल पर मोक्ष मांगा है, वहां भी मोक्ष की उत्कट चाहत ही समझें। मोक्ष की उत्कृष्ट चाहत के योग से देव-देवी के पास भी मोक्ष मांगा है। देव-देवी मोक्ष नहीं दे सकते। परन्तु मोक्ष की कारणभूत धर्मध्यान की प्राप्ति में आनेवाले अंतराय अवश्य दूर कर देंगे।

साधर्मिक अन्य साधर्मिक की सहायता करे इसमें भले ही वर्तमानमें कोई मुश्किल दूर करने का उद्देश्य हो, धर्म में जोड़ने का उद्देश्य हो, उन्मार्ग से वापस मोड़ने का उद्देश्य हो, परन्तु अंततः तो मोक्षमार्ग के पथ पर अग्रसर करके मोक्ष में पहुंचाने का ही उद्देश्य होता है। (और तो ही भावोपकार कहलाता है।)

इसलिए यह भी याद रखें कि, मोक्ष के निर्मल उद्देश्यपूर्वक निर्मल हृदय से सम्यग्दृष्टि देव-देवी के पास समाधि-बोधि मांगी जाए तो, वे देते हैं, अन्यथा हमारे सामने भी नहीं देखते।

एक बात यह भी याद रखें कि, स्तुतिकारोंने देव-देवी के पास भी मोक्ष मांगा है। तो अरिहंत परमात्मा के पास तो मोक्ष ही मांगा जाना चाहिए, यह स्वयमेव सिद्ध होता है।

इस प्रकार मुनि श्री जयानंदविजयजी ने अपनी पुस्तकमें उठाए सभी मुद्दे शास्त्रीय अनभिज्ञता के परिचायक हैं। शास्त्रों के उपरी तौर पर अवगाह को कुतर्कों के तौर पर प्रस्तुत किया है। इसके अलावा और कुछ नहीं है।

इसलिए पाठकों से सिफारीश है कि, शास्त्र तथा शास्त्र मान्य सुविहित परम्परा से सिद्ध देव-देवी के कायोत्सर्ग, उनकी स्तुति तथा उनके औचित्य के विषय में कोई शंका न रखें। साथ ही शास्त्रों ने तथा सुविहित परम्पराने जो मर्यादाएं बताई हैं, उनका भी अवश्य पालन करना ही चाहिए।

किसी भी वस्तु में किया जानेवाला मर्यादा का उल्लंघन अनर्थ का कारण बनता है। अतिरेक तो उससे भी बुरा है। पाठक इतना विचार करके शास्त्रमान्य

तपागच्छ की सामाचारी का आदर-सेवन करें यही सिफारिश।

प्रश्न : त्रिस्तुतिक मतवाले अनुष्ठानों के द्रव्यानुष्ठान तथा भावानुष्ठान ये दो भेद करते हैं। ये सच्चे हैं या झुठे हैं ?

उत्तर : त्रिस्तुतिक मतवालों ने अनुष्ठानों के जिस प्रकार निराधार काल्पनिक भेद किए हैं, ऐसे भेद शास्त्र में कहीं भी देखने को नहीं मिलते। इस प्रकार के भेद अपने मत की पुष्टि के लिए स्वयं उन्होंने कल्पना से उत्पन्न किए हैं और निराधार है।

हां, अनुष्ठान के द्रव्यानुष्ठान तथा भावानुष्ठान ये भेद शास्त्रोमें अवश्य किए हैं। द्रव्यक्रिया-भावक्रिया, द्रव्यपूजा-भावपूजा ये दो भेद भी किए गए हैं। परन्तु किसीभी शास्त्रमें देव-देवी के कायोत्सर्ग एवं उनकी स्तुति के विधान एवं निषेध के आश्रयमें अनुष्ठान के दो विभाग नहीं किए गए हैं। अर्थात् जिस अनुष्ठानमें देव-देवी का कायोत्सर्ग एवं स्तुति बोली जाती हो उसे द्रव्यानुष्ठान कहा जाता है और जिसमें देव-देवी का कायोत्सर्ग न होता हो तथा उनकी स्तुति न बोली जाती हो वह भावानुष्ठान कहा जाता है। ऐसे भेद किसी भी शास्त्रमें कहीं देखने को नहीं मिलते।

प्रश्न : मुनिश्री जयानंदविजयजी ने अपनी 'अंधकार से प्रकाश की ओर' पुस्तक के पृष्ठ-५ पर एक प्रश्न के उत्तरमें अपने मत की पुष्टि के लिए अनुष्ठान के दो भेद बताए हैं। यह प्रश्नोत्तर निम्नानुसार है।

- "द्रव्यानुष्ठान और भावानुष्ठान में क्या भेद है ?
- द्रव्यानुष्ठान के दो अर्थ होते है। १. भाव रहित अनुष्ठान द्रव्यानुष्ठान, २. जो अनुष्ठान द्रव्य की मुख्यता वाला हो वह द्रव्यानुष्ठान, जैसे प्रतिष्ठा, दीक्षा, उपधान आदिमें जो नन्दीकी क्रिया होती है, उसमें द्रव्य की मुख्यता होने से उन अनुष्ठानों को द्रव्यानुष्ठान कहा जाता है। और जिसमें केवल भावकी ही मुख्यता हो जैसे प्रतिक्रमण, देववंदन आदि जिसमें सावद्य अनुष्ठान का

नामोनिशान नही होता है यह भावानुष्ठान । देव-देवीयों को निमंत्रण, उनकी प्रशंसा आदि द्रव्यानुष्ठान में आवश्यक है । कार्य की निर्विघ्न पूर्णाहूति के लिए उनकी सहायता लेने का विधान है और भावानुष्ठानमें की गई याचना करनेसे आशय की शुद्धता नही रहती । शुद्ध आशय रहित धर्मक्रिया कर्मक्षय में निमित्तभूत न बनकर कर्म बन्धनका कारण बन जाती है।

शासनरक्षा, विद्या, साधनमंत्र आदि की सिद्धि, शासन भक्तोंकी रक्षा आदि कार्य सब द्रव्यानुष्ठानमें अन्तर्गत है, कारण कि इसमें कर्म क्षय का हेतु (भाव) नहीं है।

भाव अनुष्ठान में भौतिक याचना चाहना कोइ स्थान नहीं होता । भाव अनुष्ठानोमें याचना करनी और इच्छा रखनी यह तो विपरीत मार्ग है।"

(नोट : मुनिश्री ने 'सत्य की खोज' पुस्तक में उपर्युक्त प्रश्नोत्तर जस का तस दिया है। (नूतन) संस्करण में भी ऐसा ही दिया है।)

तो क्या मुनिश्री जयानंदविजयजी ने अनुष्ठानों के जो भेद बताएं हैं, वे गलत हैं ? यदि गलत हैं तो कैसे गलत हैं ?

उत्तर : मुनिश्री जयानंदविजयजी ने अनुष्ठानों के जो भेद बताए हैं वे बिल्कुल झूठे हैं। यह निम्नलिखित स्पष्टताओं से आपकी समझमें आ जाएंगे।

- मुनिश्री द्वारा पेश किए गए मुद्दों पर प्रश्न उठता है कि,

जिसमें नंदी की क्रिया हो वह द्रव्यानुष्ठान कहलाता है, यह द्रव्यानुष्ठान की व्याख्या वे किस शास्त्र से लेकर आए यह बताएं अथवा किस शास्त्र वचन के आधार पर उन्होंने यह व्याख्या की है, यह स्पष्ट करें,

प्रतिष्ठा में नंदी की क्रिया कहां आती है ? प्रतिष्ठा में देव-देवीकी सहायता के लिए साधर्मिक के तौर पर उनकी पूजा की जाती है तथा उपशांति के लिए दुष्ट देवों को बलि चढाई जाती हैं। प्रतिष्ठा के बाद देववंदन किया जाता है। पूजनोंमें

मात्र उनके श्लोक बोलकर पूजा की जाती है। देववंदनमें देव-देवी के कायोत्सर्ग तथा उनकी थोय बोलनी होती है। इसलिए देववंदन में ही उनका कायोत्सर्ग तथा स्तुति बोलनी है। वे देववंदन को भावानुष्ठान बताते हैं, तो वहां क्यों देव-देवीके कायोत्सर्ग व उनकी थोय करते हो ? पूजनमें श्लोक बोलकर पूजा की जाती है, इसमें भी श्लोक (स्तुति) भावपूजा ही है। उनकी द्रष्टि से तो भावानुष्ठान ही कहलाती है तो उसमें स्तुति क्यों करते हैं ?

- क्या जिनमंदिर व प्रतिक्रमण में होनेवाला देववंदन भावानुष्ठान है और प्रतिष्ठा, दीक्षा व उपधान की क्रिया में होनेवाला देववंदन द्रव्यानुष्ठान है ? यह उनकी दोहरी नीति नहीं है ?
- वास्तव में मुनिश्री ने अपने मत की पुष्टि के लिए कल्पना करके द्रव्यानुष्ठान तथा भावानुष्ठान के भेद बताए हैं। इस प्रकार किसी भी शास्त्रकारने भेद नहीं बताए हैं।

यदि उनकी अनुष्ठानोंकी व्याख्या काल्पनिक नहीं हो तो मुनिश्री को यह व्याख्या किस शास्त्रोमें है, उसका नाम देना चाहिए। इसके साथ ही उसमें प्रस्तुत व्याख्या का पाठ स्पष्ट रुप से प्रस्तुत करना चाहिए।

दीक्षा भी भावानुष्ठान है । क्योंकि, योगद्रष्टि समुच्चय ग्रंथ में पू.आ.भ.श्री हरिभद्रसूरिजी महाराजाने गाथा-१० की टीकामें कहा है कि,

प्रव्रज्याः ज्ञानयोगप्रतिपत्तिरुपत्वात् । -प्रव्रज्या (दीक्षा) ज्ञानयोग के स्वीकार रुप है।

इस गाथामें पू.आ.भ.श्री ने कहा है कि, प्रव्रज्या स्वीकार करते समय अतात्विक कोटि का सामर्थ्य योग होता है। इसमें आत्मा का बल (सामर्थ्य) विशेषकर उल्लसित होता है। इसे सामर्थ्ययोग कहते हैं। दीक्षा स्वीकार करते समय साधक सांसारिक बंधनों को तोड़ने के लिए उल्लसित होता है और आत्महितकर आज्ञायोग को प्राप्त करने की उत्सुकतावाला होता है। इसलिए

सामर्थ्य योग होता है। (परन्तु सामर्थ्य योगका फल केवलज्ञान है, उसका प्रव्रज्या के समय अभाव होने से ऐसा सामर्थ्य योग अतात्त्विक है। फिर भी दीक्षा के समय का आत्मीय सामर्थ्य सम्यग्दर्शन प्राप्त करानेवाला होता है। अथवा प्राप्त सम्यग्दर्शन को निर्मल बनाकर चारित्र की परिणति की प्राप्ति कराकर (केवलज्ञान का अनन्य कारण समान) रत्नत्रयीका साम्राज्य दिलाता है। इसलिए अतात्त्विक भी सामर्थ्य योग कहलाता है।

इसलिए दीक्षा के समय भाव की ही जबरदस्त कोटि की प्रधानता है। इसलिए 'जिसमें भावकी प्रधानता हो वह भावानुष्ठान कहा जाता है' यह मुनि श्री की बात एक पल के लिए मान लें तो भी दीक्षा भावानुष्ठान के रुप में ही सिद्ध होती है। फिर भी दीक्षा की क्रिया के समय देव-देवी का कायोत्सर्ग एवं उनकी स्तुति बोली ही जाती है। इसलिए मुनिश्री उसे द्रव्यानुष्ठान -द्रव्यक्रिया कहने का साहस कर बैठे। यह देखकर किसी को भी कहना पड़ेगा कि, मुनिश्री की बात असत्य है। उनके द्वारा बताए गए भेद भी असत्य-मिथ्या हैं।

- जिसमें भाव तक पहुंचने की योग्यता हो वह द्रव्य कहलाता है और जिसमें भगवान की आज्ञाका योग हो वह भाव कहलाता है। जिसमें भगवान की आज्ञा के योग तक पहुंचने की योग्यता हो वह प्रधान कोटि का द्रव्य कहलाता है और इस प्रकार की योग्यता न हो तो वह अप्रधान कोटि का द्रव्य कहलाता है।

जहां जिनाज्ञानुसारिता है वहां भाव है और जहां जिनाज्ञानुसारिता नहीं वहां द्रव्यता है।

जहां स्वरुप से सावद्यता हो और अनुबंध से निरवद्यता हो वह द्रव्यपूजा कहलाती है। द्रव्यपूजा में भी भाव का अभाव तो नहीं हैं। (द्रव्यपूजा के समय भी जिनेश्वर परमात्मा के गुणों का बहुमानभाव तथा उन गुणों को प्राप्त करने का भाव होता ही है।) जिसमें स्वरुप से सावद्यता न हो वह भावपूजा कहलाती है।

उपरोक्त सिद्धांतो का अनुसरण करके शास्त्रों में द्रव्यानुष्ठान-भावानुष्ठान, द्रव्यक्रिया-भावक्रिया, द्रव्यपूजा-भावपूजा के भेद किए गए हैं। परन्तु जिसमें देव-देवी के कायोत्सर्ग किए जाएं और उनकी स्तुति बोली जाएं वह द्रव्यानुष्ठान और जिसमें यह प्रवृत्ति न होती हो वह भावानुष्ठान इस प्रकार के भेद किसी भी शास्त्रमें नहीं बताए गए हैं।

- **मुनिश्री ने उपर ऐसे भाव का वर्णन किया है कि,** 'जिसमें सावद्य अनुष्ठान हो वह द्रव्यानुष्ठान तथा जिसमें सावद्य अनुष्ठान न हो वह भावानुष्ठान।'

लेखकश्री की यह मान्यता भी झूठी है। अनुष्ठान के आगे 'सावद्य' विशेषण लगाया है, यह शास्त्र की अनभिज्ञता दर्शाता है, क्योंकि परमात्मा द्वारा प्ररुपति कोई भी अनुष्ठान निरवद्य ही होता है। क्योंकि, स्वरुप से सावद्यता होने के बावजूद अनुबंध से निरवद्यता होने के कारण वह अनुष्ठान निरवद्य ही कहा जाता है।

जिसमें स्वरुप से सावद्यता हो और अनुबंध से निरवद्यता हो, ऐसे अनुष्ठानों को 'सावद्य' बिल्कुल नहीं कहा जा सकता। किन्तु शास्त्रीय परिभाषा में उसे 'सारंभ' अनुष्ठान कहा जाता है। जिसमें स्वरुप से भी सावद्यता नहीं, बल्कि निरवद्यता ही है और अनुबंध से भी निरवद्यता है, इसे शास्त्रीय परिभाषा में 'अनारंभ' अनुष्ठान कहा जाता है।

भगवान द्वारा प्ररुपित अंगपूजा-अग्रपूजा द्रव्यपूजा है तथा स्तुति-स्तवना चैत्यवंदना भावपूजा है। देववंदन भावपूजा होने के बावजूद उसमें चतुर्थ थोय बोली जाती है। इसलिए मुनिश्री की बात परस्पर विरोधी है।

इससे आगे बढ़कर देखें तो उपरोक्त लेख में मुनिश्री जयानंदविजयजी लिखते हैं कि,

"देव-देवीयों को निमंत्रण, उनकी स्तुति, प्रशंसा आदि द्रव्यानुष्ठान में आवश्यक है। कार्य की निर्विघ्न पूर्णाहूति के लिए उनकी सहायता लेने का विधान है और भावानुष्ठान में याचना करने से आशय की शुद्धता नहीं रहती। शुद्ध

आशय रहित धर्मक्रिया कर्मक्षय में निमित्तभूत न बनकर बन्धन का कारण बन जाती है।"

समीक्षा : जगतमें कहा जाता है कि, चोर चोरी करते जाए और चौकीदार के हाथों पकड़ा जाए ऐसे निशान खुद ही भूल से छोड़ता जाता है।

शास्त्र विरोधी प्ररुपणा करनेवाले व लिखनेवाले भी अपनी प्ररुपणा व लेख में ऐसी भूलें छोड़ते हैं कि, वे स्वयमेव शास्त्रविरोधी प्ररुपणा करनेवाले अथवा लिखनेवाले साबित हो जाते है।

मुनिश्री उपर लिखते हैं कि 'कार्यकी निर्विघ्न समाप्ति के लिए (उनकी कल्पनानुसार) द्रव्यानुष्ठान में देव-देवी की सहायता लेने का विधान है।' **यहां मुनिश्री के ऐसे विधान पर प्रश्न उठता है कि...**

क्या (उनकी कल्पनावाले) प्रतिक्रमणादि आदि भावानुष्ठान में विघ्न आते ही नहीं ?

शास्त्रों में तो कहा गया है कि कल्याणकारी कार्यों में बडे लोगों के समक्ष भी विघ्न आते हैं। योगद्रष्टि समुच्चय ग्रंथ में गाथा-१ की टीका में कहा गया है कि,..

श्रेयांसि बहुविघ्नानि, भवन्ति महतामपि।
अश्रेयसि प्रवृत्तानां क्वापि यान्ति विनायकाः ॥

-अच्छे कार्योंमें (कल्याणकारी कार्योंमें) महापुरुषों के समक्ष भी विघ्न आते हैं। अकल्याणकारी प्रवृत्तिमें प्रवृत्त व्यक्तियों से विघ्न भी दूर भागते हैं।

तो क्या प्रतिक्रमणादि कल्याणकारी नहीं, कि उनमें विघ्न ही नहीं आ सकते ? यदि उनमें विघ्न आते हों तो विघ्नों के *निवारणार्थ* देव-देवी को निमंत्रण उनकी स्तुति आदि करने में क्या दोष हो सकता है ?

(उनकी कल्पनावाले) द्रव्यानुष्ठानमें देव-देवीकी सहायता लेने का विधान है और (उनकी कल्पनावाले) भावानुष्ठानमें देव-देवीकी

सहायता लेने का विधान नहीं, ऐसा वे किस शास्त्र के आधार पर कहतें हैं ? उस शास्त्रका नाम, उसका संदर्भ उन्हें प्रस्तुत करना चाहिए।

धर्मसंग्रह, श्राद्धविधि, योगशास्त्र, पूर्वाचार्यकृत सामाचारी आदि अनेक ग्रंथ तो कहते हैं कि, प्रतिक्रमणादि में भी देव-देवी की सहायता के लिए उनके कायोत्सर्ग व स्तुति कहनी चाहिए । तो इन सभी ग्रंथो के शास्त्रपाठ उन्हें मान्य नहीं ? यदि उन्हें धर्मशास्त्र व उनके विधान मान्य न हो तो कोई भी सच्चा जैन कैसे मान्य कर सकता है ?

-(उनकी कल्पनावाले) द्रव्यानुष्ठा में देव-देवी की सहायता लेने में दोष नहीं लगता है, तो भावानुष्ठान में दोष कैसे लग सकता है ? यह उन्हें शास्त्र पाठ के आधार पर प्रस्तुत करना चाहिए। शास्त्रीय विषयों में कोरी कल्पना नहीं चल सकती।

मुनिश्री कहते हैं कि, (उनकी कल्पनावाले) भावानुष्ठान में याचना करने से आशय शुद्धि नहीं रहती।

यहां मुनिश्री के ऐसे झूठे विधानों पर प्रश्न उठता है कि.....

भावानुष्ठान में देव-देवी से याचना करने से शुद्धि नहीं रहती, ऐसा वे कहते हैं, यह किस शास्त्र के आधार पर कहते हैं ? वह शास्त्रपाठ उन्हें प्रस्तुत करना चाहिए।

देव-देवीसे समाधि-बोधि मांगने से द्रव्यानुष्ठान में आशय शुद्धि रहती हो तो भावानुष्ठान में क्यों न रहे ?

क्या आप यह कहना चाहते हैं कि द्रव्यानुष्ठान में आशय शुद्धि की जरुरत नहीं और भावानुष्ठान में आशय शुद्धि की जरुरत है। इसलिए भावानुष्ठान में देव-देवी से याचना नहीं की जानी चाहिए। क्या उनकी यह बात अज्ञानता अथवा कदाग्रही के घर की नहीं ? यदि शास्त्रों के घर की हो तो उन्हें शास्त्रपाठ प्रस्तुत करने चाहिए।

क्या ऐसा नहीं लगता कि, अपनी मान्यता को सिद्ध करने के लिए दिए गए

कुतर्कों में मुनिश्री स्वयं फंस गए है। मैं परस्पर विरुद्ध लिख रहां हूं, शास्त्र के विरुद्ध लिख रहा हूं, इसका भी उन्हें ख्याल नहीं रहा।

वास्तविकता यह है कि पूर्वाचार्य परमर्षियोंने स्वरचित शास्त्रों में स्पष्ट कहा है कि, प्रतिक्रमण आदि सभी क्रियाओं में देव-देवी को सहायता मांगने में कोई दोष नहीं। (यह हम पूर्वमें कई जगहों पर शास्त्रपाठों और उनके भावार्थों से देख चुके हैं।) परन्तु त्रिस्तुतिक मत के लेखकश्री को यह बातें मान्य नहीं। इसलिए उन्हें कुतर्कों के सहारे अपने मत को सिद्ध करने का प्रयत्न करना पडा है। इसमें उन्हें विफलता ही मिली है। इन कुतर्कों में 'वे स्वयं फंस गए हैं।'

इसी लेख में मुनिश्री लिखते हैं कि,

"शुद्ध आशय रहित धर्मक्रिया कर्मक्षय में निमित्तभूत न बनकर कर्म बन्धन का कारण बन जाती है॥"

शुद्ध आशय किसे कहा जाता है और अशुद्ध आशय किसे कहा जाता है, इसकी शुद्ध व्याख्या समझे बिना जो लिखा जाता है वह दिखने में सच होने के बावजूद वास्तवमें सर्वथा असत्य है।

'भावानुष्ठान में देव-देवी की सहायता लेने से आशय शुद्ध नहीं रहता और आशय शुद्धता न रहे तो कर्मक्षय के बजाय कर्मबंध होता है।'

यह बात (उनकी कल्पनावाले) द्रव्यानुष्ठान को भी लागू होगा। यह मुनिश्री को इष्ट है? उन्हें अनुकूल नहीं आएगी।

(उनकी कल्पनावाले) द्रव्यानुष्ठान में देव-देवीकी सहायता ली जाती होने से उसमें (उनके कथनानुसार) आशय की शुद्धता नहीं रहेगी। (यह पहली आपत्ति आएगी।)

इसमें आशय की शुद्धता न हो तो भी चले, यह शास्त्रविरुद्ध अर्थापत्ति से सिद्ध होता है। (यह दूसरी आपत्ति है।)

इसमें आशय की शुद्धता न रहने से (मुनिश्री के कथनानुसार) वह

द्रव्यानुष्ठान कर्मक्षय का कारण नहीं बनेगा, बल्कि कर्मबंध का कारण बनेगा। (यह तीसरी आपत्ति आएगी।)

उनकी कल्पना शास्त्रविरोधी होने से उत्सूत्ररुप बनेगी। (यह चौथी आपत्ति आएगी।)

लेखक को एक असत् कल्पना कितनी आपत्तियों में फसाती है यह पाठकगण स्वयं देख सकते हैं।

जैनशासन का कोई भी अनुष्ठान कर्मक्षय के निमित्त से ही करना है। कर्मक्षय की धर्मसामग्री जिससे मिलती है उस पुण्यानुबंधी पुण्य की अपेक्षामें भी कालांतर में कर्मक्षय का उद्देश्य ही निहित है। देव-देवी की सहायता लेने से कर्मबंध नहीं होता। परन्तु शास्त्र तथा शास्त्र मान्य आचरण का पालन करने से उन देव-देवी से सहायता मिलती ही है। साथ ही साथ कर्मक्षय भी होता ही है। क्योंकि, शास्त्र मान्य परम्परा का आदर करने से तथा उनके द्वारा कही गई क्रिया करने से नियमा कर्मक्षय होता ही है।

मुनिश्री इसी लेख में लिखते हैं कि,

"शासन रक्षा, विद्या, साधन मंत्र आदि की सिद्धि, शासन भक्तोंकी रक्षा आदि कार्य सब द्रव्यानुष्ठान के अन्तर्गत है, कारण कि इसमें कर्मक्षय का हेतु (भाव) नहीं है॥"

उपरोक्त लेख में मुनिश्री ने दो गलत कार्य किए हैं। एक भव्यात्माओं से धोखाधड़ी की है। क्योंकि, विविध महापुरुषों द्वारा जो शास्त्ररक्षा आदि के कार्य हुए है और उनमें देव-देवी की सहायता ली गई है, उन बातों का विस्तार से उल्लेख नहीं किया है। विस्तार से लिखें तो स्वयमेव उनकी मान्यता असत्य सिद्ध हो सकती है।

दूसरा, 'महापुरुषों द्वारा किए गए शासनरक्षादि के कार्यों में उद्देश्य कर्मक्षय नहीं था,' ऐसा कहकर उन्होंने महापुरुषों की अवहेलना की है। उन्होंने किसी

भौतिक स्वार्थ से शासनरक्षा के कार्य किए होंगे, यह उन्होंने मिथ्या आरोप लगाया है।

साथ ही गलत प्ररुपणा की है कि शासनरक्षादि कार्यरुप द्रव्यानुष्ठान में कर्मक्षय का उद्देश्य (भाव) नहीं होता।

-पू.वज्रस्वामीजी महाराजाने देव-देवी की सहायता ली थी, यह आवश्यक चूर्णिमें दर्शाया गया है।

-पू. कलिकाल सर्वज्ञश्री ने ज्ञानसाधना के लिए सरस्वती देवी की कृपा हांसिल की थी। इसका अनेक ग्रंथोमें उल्लेख है।

-पू.महोपाध्यायश्री यशोविजयजी महाराजाने भी ज्ञानसाधना के लिए सरस्वती देवीकी साधना की थी, यह सब कोई जानता है।

-श्री वज्रस्वामीजी ने देव-देवी की सहायता से शासनभक्तों की रक्षा की थी, यह प्रत्येक वर्ष पर्युषणा में सब कोई सुनता है।

-श्री वीर परमात्माकी पाट परम्परा में हुए प्रभावक महापुरुष पू.आ.भ.श्री मानदेवसूरिजी ने मरकी रोग निवारणार्थ नाडोल में लघुशांति की रचना की थी, इसकी गवाही स्वयं जैन शासन का इतिहास देता है।

-पू.आ.भ.श्री मानतुंगसूरिजी ने बेडियां तोडने के लिए मंत्रगर्भित भक्तामर की रचना की थी।

-इन सभी में मूलभूत आशय तो मुक्ति की प्राप्ति एवं मुक्ति के अंगो की रक्षा के सिवाय और क्या था?

इसके अलावा कई अन्य दृष्टांत शास्त्रों के पृष्ठों पर स्वर्णाक्षरों से अंकित हैं।

सभी स्थलों पर महापुरुषों का उद्देश्य स्व-पर का उपकार करना ही है। उपकार कर्मक्षय का अनन्य कारण है और कर्मक्षय की सामग्री प्रदान करता है। इसलिए महापुरुषों का ते ते कार्य करने में उद्देश्य तो एक मात्र कर्मक्षय ही था। फिर भी लिख देना कि, इन कार्यों में कर्मक्षय का उद्देश्य

नहीं होता, यह शास्त्रविरोधी हैं और महापुरुषों के निर्मल आशयों की आशातना है।

त्रिस्तुतिक मत के लेखकों ने अनुष्ठान के भेद करके जबरदस्त दंभ का प्रदर्शन किया है। क्योंकि, अपनी मान्यता शास्त्र सापेक्ष है, यह दर्शाने के लिए जहां-जहां देव-देवीकी सहायता लेने की बात आई, वहां-वहां उसे काल्पनिक द्रव्यानुष्ठान में खपाकर जैसे वे शास्त्रों के वफादार हैं ऐसा दिखावा किया है। **शास्त्रों के विरोधी होने के बावजूद हम शास्त्रों के वफादार हैं, वह दर्शाना निरीह आडम्बर हैं दंभ ही हैं।**

'द्रव्यानुष्ठान में कर्मक्षय का उद्देश्य नहीं होता।' ऐसा जैनशासनको जाननेवाला सामान्य व्यक्ति भी नहीं कह सकता। फिर भी मुनिश्री ने ऐसा लिखा है, यह बिल्कुल शास्त्रविरोधी है।

-क्या दीक्षामें कर्मक्षयका उद्देश्य नहीं ? कर्मक्षय का उद्देश्य नहीं तो क्या उद्देश्य है ?

-क्या प्रतिष्ठाकी क्रिया में कर्मक्षय के उद्देश्य के बजाय मान-सन्मान प्राप्त करनेकी लालसा होती है ?

-दीक्षादि प्रत्येक क्रिया कर्मक्षय के लिए ही करने का विधान है और इसलिए की जानेवाली दीक्षादि प्रत्येक क्रियामें देव-देवी के कायोत्सर्ग व स्तुति बोलनी ही होती है। इसके अलावा अनेक शास्त्रवचनों के सामने आंख-मिचौली करके उसे द्रव्यक्रिया कहना, यह कितना बड़ा दुःसाहस है ? यह पाठकगण सोचें और उन्मार्ग से बचें।

ये सभी अनुष्ठान कर्मक्षय के उद्देश्य से करने को शास्त्र कहता हैं।

श्री दश वैकालिक सूत्रमें तप एवं श्रमण जीवन के सभी आचारोंका कर्मनिर्जरा के अलावा अन्य किसी भी उद्देश्य से पालन करने का इनकार किया गया है। एक मात्र कर्मनिर्जरा के उद्देश्य से ही करने को कहा गया है। फिर भी

मुनिश्री इसमें कर्मनिर्जरा का उद्देश्य नहीं होता, ऐसा जो कहते हैं वह उनकी कदाग्रह दशा की सूचक है।

एक भूल होने के बाद उसे सुधारने की आंतरिक भावना न हो, तो एक भूल अनेक भूलें कराती है, यह बात सुनी थी, अब मुनिश्रीकी पुस्तकको देखकर वह बात सिद्ध होते देख रहे हैं।

'जिसमें कर्मक्षय का उद्देश्य हो वह भावानुष्ठान और जिसमें कर्मक्षयका उद्देश्य न हो वह द्रव्यानुष्ठान' -ऐसी व्याख्या किस शास्त्रमें है ? मुनिश्री जयानंदविजयजी उस शास्त्र का नाम बताएं और उस शास्त्र का वह पाठ भी प्रस्तुत करें।

कर्मक्षय के उद्देश्यपूर्वक ही अनुष्ठान करता है, फिर भी साधक अभिन्न ग्रंथिक (सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं किया, किन्तु उसके सन्मुख) है, तब उस साधकका अनुष्ठान द्रव्यानुष्ठान होता है।

'कर्मक्षय के उद्देश्यपूर्वक ही अनुष्ठान करता है, फिर भी साधक अभिन्न ग्रंथिक (सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं किया, किन्तु सम्यग्दर्शन के सन्मुख) है। तथा देश अथवा सर्व चारित्र के परिणाम को प्राप्त नहीं करता, तब उसका अनुष्ठान द्रव्यानुष्ठान कहलाता है।

कर्मक्षय के उद्देश्यपूर्वक अनुष्ठान करनेवाला साधक भिन्न ग्रंथिक (सम्यग्दर्शन प्राप्त हो) तथा चारित्र के परिणाम को प्राप्त करनेवाला हो, तब उसका अनुष्ठान भावानुष्ठान कहलाता है।

सक्षिप्त में ते ते गुणस्थानक की परिणति को प्राप्त करनेवाले साधक का गुणस्थानक सम्बन्धी अनुष्ठान भावानुष्ठान कहलाता है और ते ते गुणस्थानक की परिणति को प्राप्त नहीं कर सका है, किन्तु वह पाने की सच्ची दिशा में आगे बढ़ रहा हो, तब ते ते गुणस्थानक सम्बंधी अनुष्ठान द्रव्यानुष्ठान कहलाता है।

शास्त्रों में द्रव्यानुष्ठान-भावानुष्ठान की ऐसी व्याख्या की गई हैं। मुनिश्रीने

की है इस प्रकार से नहीं की गई है। उनकी व्याख्या उत्सूत्र है। शास्त्र विरोधी है।

मुनिश्री जयानंदविजयजी इस प्रश्नके उत्तरमें आगे लिखते हैं कि,

"भाव अनुष्ठानमें याचना चाहना को कोई स्थान नहीं होता। भाव अनुष्ठानों में याचना करनी और इच्छा रखनी यह तो विपरीत मार्ग है।"

यहां मुनिश्री यह कहना चाहते हैं कि, 'भाव अनुष्ठान में भौतिक याचना करने के लिए कोई स्थान नहीं है। द्रव्यानुष्ठान में भौतिक याचना करने के लिए स्थान है। इसलिए भाव अनुष्ठानमें देव-देवी के कायोत्सर्ग आदि न हों तथा द्रव्यानुष्ठान में देव-देवी कायोत्सर्ग आदि होते हैं।'

यह लेखकश्री की अनभिज्ञता है, कि लोगों को गलत समझाकर अपने मत की सिद्धि करने का इरादा है।

जैनशासन के किसी भी अनुष्ठान में भौतिक याचना करनी ही नहीं हैं। किसी भी शास्त्रने श्री जिनेश्वर परमात्मा से मोक्ष एवं सम्यग्दृष्टि देवताओं से भौतिक सुख मांगने की बात ही नहीं की है। इसलिए मोक्ष की मांग तथा भौतिक सुख की मांग का अनुसरण करके मुनिश्री ने अनुष्ठानमें जो दो भेद बताए हैं, वे काल्पनिक होने के कारण बेबुनियाद हैं। शास्त्रनिरपेक्ष हैं।

शास्त्रकार परमर्षियों ने तो कहा है कि, जो अनुष्ठान कर्मक्षय-मोक्ष के उद्देश्य से करने को कहा गया है, वह अनुष्ठान आलोक अथवा परलोकके भौतिक सुख के लिए किया जाए, तब वह अनुष्ठान विषानुष्ठान तथा गरलानुष्ठान बन जाता है। वही अनुष्ठान कर्मक्षय-मोक्ष के लिए किया जाता है, तब वह तद्हेतु अथवा अमृत अनुष्ठान बनता है।

मुग्ध जीवों के लीए बताए गए शास्त्र विधानों को सर्व सामान्य रुप से प्ररुपित करनेवाले वास्तव में मार्ग भटक गए हैं।

मुक्ति के अद्वेष या मुक्ति के आंशिक राग की विद्यमानता में जो अनुष्ठान हो वह तद्हेतु अनुष्ठान कहा जाता है। (मुक्ति-अद्वेष बत्रीसी।)

विष एवं गरल अनुष्ठान शास्त्रकारों ने हेय कहे हैं। संसारवर्धक कहे हैं। जैसे विष मारनेवाला है, वैसे ही यह दो अनुष्ठान भी सद्य (तुरंत) एवं कालांतर में मारनेवाले हैं।

इसलिए मुनिश्री की बात निराधार है। अपनी मान्यतामें आनेवाली आपत्तियों को टालने के लिए उन्होंने जो प्रयत्न किया है, वह विफल हुआ है। फिर भी उन्होंने शास्त्रकारों व हजारों पूर्वाचार्यों द्वारा आचरित परम्परा को गलत कहने का दुःसाहस मजे से किया है। उनकी मति उन्हें ही मुबारक।

भव्यात्माओं से इतनी ही सिफारिश हैं कि, निराधार बातों के आधार पर चलने में आत्मा का अहित हैं। इसलिए शास्त्र एवं शास्त्रमान्य परम्परा से जुड़े रहने में ही हित है।

जो कार्य पूर्वधरों के काल से अब तक किसी भी सुविहित महापुरुष को गलत नहीं लगा, उसी कार्य को गलत कहने का दुःसाहस त्रिस्तुतिक मतवाले किस आधार पर करते हैं, यह आज तक शास्त्राधार से सिद्ध नहीं कर सके हैं। फिर भी हम शास्त्रसापेक्ष हैं, ऐसा जबरदस्त दिखावा करते हैं। इसलिए भव्यात्माओं से उनकी बातों में नहीं आने की सिफारिश है।

मुनिश्री जयानंदविजयजी की तीन पुस्तकों में एवं त्रिस्तुतिक मत के अन्य लेखकों की पुस्तकों में सम्यग्दृष्टि देव-देवी के लिए काफी कुछ लिखा गया है। मिथ्यादृष्टि घंटाकर्ण आदि की काफी खबर ली है।

किन्तु जो सम्यग्दृष्टि हैं, ऐसा किसी शास्त्राधार से आज तक सिद्ध नहीं हुआ है। ऐसे नाकोड़ा भैरव के लिए एक भी शब्द त्रिस्तुतिक मतवालोंने नहीं कहा हैं। कारण स्पष्ट है कि, उनके विषय में बोलने गए तो मारवाड़ में उनकी आजीविका जोखिम पड़ सकती हैं।

ऐसा सुविधाजनक रवैया रखनेवालों को शास्त्रों की बात करनेमें लज्जा आनी चाहिए। **॥ सुज्ञेषु किं बहुना ॥**

इसलिए अनुष्ठानों के काल्पनिक निराधार भेदों में फंसे बिना शास्त्रकारोंने

एक समान ढंग से सभी अनुष्ठानों में जिन देव-देवियोंका स्मरण विहित किया है, उसका अनुसरण करनेवाले बनें, इसी में हमारा हित है।

प्रश्न : क्या पू.महोपाध्यायजी श्रीयशोविजयजी महाराजाने 'तीन थोय' को मान्य किया है ? और चौथी थोय का खंडन किया है ? **'सत्य की खोज'** पुस्तक के (नूतन संस्करणके) पृष्ठ-२०८ पर पू.महोपाध्यायजी श्रीयशोविजयजी म.कृत प्रतिमाशतक के आधार पर अपने मत को सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है, क्या वह योग्य है ?

उत्तर : नहीं, प्रतिमाशतक के ग्रंथकारश्री ने गाथा-२की टीकामें कहीं भी 'तीन थोय' विहित नहीं बताया है और चतुर्थ स्तुतिको अविहित नहीं दर्शाया है। इसलिए 'सत्य की खोज' पुस्तक के लेखक मुनिश्री जयानंदविजयजी की बात असत्य है

'सत्य की खोज' पुस्तक में सत्य को खोजना पड़ेगा किन्तु सत्य नहीं मिलता ऐसी स्थिति है। मुनिश्री ने सत्य को इस हद तक दबा देने का प्रयास किया है कि पूरी पुस्तक में सत्य कहीं भी खोजने पर भी नहीं मिलता है।

'सत्य की खोज' पुस्तकमें लेखकश्रीने प्रतिमाशतक के आधार पर जिस प्रकार की बात की है, वैसी बात प्रतिमाशतक में की ही नहीं गई है। इस विषयमें लेखकश्री ने कुतर्क करके बात को तोड़ मरोड़कर प्रस्तुत किया है। **'स्तुतित्रयं प्रसिद्धम्'** मात्र इस पद को पकड़कर कुतर्कों द्वारा अपनी बात का समर्थन करते हैं।

मुनिश्री लगातार ऐसी भ्रांति में रमते हैं कि, जिससे उन्हें जहां भी 'स्तुतित्रय' पद दिखता है वहां उन्हें अपने मत की पुष्टि दिखाई देती है और बिना सोचे आगे-पीछे के संदर्भोंको देखे बिना ही वे इस पद से लिपट जाते हैं। उसके आधार पर अपने मत के पैर जमीन पर टिकाने के प्रयास करने लगते हैं। किन्तु इसमें उन्हें सफलता नहीं मिलती है, बल्कि पूरी तरह से विफलता ही मिलती है। **जिनवचनका द्रोह करनेवालेको कहीं भी कभी भी सफलता नहीं ही मिल सकती।**

मुनिश्री जयानंदविजयजी ने प्रतिमाशतक ग्रंथ के आधार पर जो कुतर्क किए हैं, उन्हें देखने से पहले वे क्या कहते हैं यह देखते हैं।

''गाथा दूसरी की टीकामें – भाषांतर पृ–३६ पर अत्र स्तव स्तवनं, स्तुतिः स्तुतित्रयं प्रसिद्धम्।।

इसका भाषांतर पृ–३६ पर दिया है – उत्तराध्ययनना पाठमां जे थय थुई कहेल छे, त्यां स्तव ए स्तवार्थक छे अने स्तुति–स्तुतित्रय प्रसिद्ध छे. त्यां बीजी स्तुति स्थापना अरिहंत आगल कराय छे. (देववंदननी अंदर हाल चार स्तुतिओ कराय छे त्यां पूर्वे त्रण स्तुति कराती हती तेथी कह्युं के स्तुतित्रय प्रसिद्ध छे.)

उपा.श्री यशोविजयजी के समयमें आगमिकगच्छ उपस्थित था। फिर भी उत्तराध्ययन सूत्रकी थयथुई शब्दकी व्याख्या स्तुतित्रय प्रसिद्धम् कहकर किया। और भाषांतरकारने भी स्पष्ट स्वीकार किया कि देववंदन में अभी चार थुई करते है वहां पूर्व में तीन थुई करते थे। जिससे स्तुतित्रय प्रसिद्धम् लिखा अब मैनें श्री जयचंद्रगणि का पाठ इस पुस्तकमें पृ–१६४ पर दिया है। जिसमें उन्होंने गणधर और पूर्वधरों के लिए भी देव स्तुति की संभावना की बात लिखी है वह कितनी सत्य असत्य है पाठक गण सोचे।।''

लेखक मुनिश्री जयानंदविजयजीने प्रतिमाशतक की गाथा–२ की टीका में से 'स्तुतित्रय प्रसिद्धम्' पद उठाकर जो चर्चा की है। उसमें प्रथम प्रतिमाशतक का पाठ देखें।

''थयथुइ मंगलेण भंते जीवे किं जणई ? थयथुइमंगलेणं नाणदंसणचरित्तबोहिलाभं जणइ, नाणदंसणचरित्त बोहिलाभ-संपण्णेणं जीवे अंतकीरियं कप्पविमाणोववत्तिअं, वा आरोहणं आरोहेइ (उत्तरा. अ. २९) इति वचनेन सिद्धा अत्र स्तवः स्तवनं स्तुतिः–स्तुतित्रयं प्रसिद्धं, तत्र द्वितीया स्तुतिः स्थापनार्हतः पुरतः क्रियते, चैत्यवन्दनावसरतया च ज्ञानदर्शनश्चारित्रबोधिलाभतो निर्मल-स्वर्गापवर्गसुखलाभ इति विशेषाक्षराण्यपि स्फुटीभविष्यन्त्यनुपदमेव।''

'हे भगवंत ! स्तव तथा स्तुति मंगल द्वारा जीव क्या प्राप्त करता है ? गौतम ! स्तव-स्तुति मंगल द्वारा जीव ज्ञान-दर्शन-चारित्र एवं बोधि लाभ प्राप्त करता है। ज्ञान-दर्शन-चारित्र एवं बोधि लाभ से जीव अंतक्रिया (सर्वसंवर रुपी मोक्षक्रिया) करता हैं । अथवा वैमानिक देवलोकमें उपपात के योग्य (=वैमानिक देवलोक प्राप्त हो ऐसी) क्रिया की आराधना करता है।' इस सूत्रपाठ से स्थापना निक्षेप आराध्य हैं। यह सिद्ध होता है। इस सूत्रमें स्तव=स्तवन एवं स्तुति अर्थात् तीन स्तुति समझनी हैं। इन तीन स्तुतिमें दूसरी स्तुति चैत्यवंदन के अवसर पर स्थापना निक्षेप के लिए भगवान के समक्ष की जाती है। तथा स्थापना के आगे की स्तुति से ज्ञान-दर्शन-चारित्र एवं बोधि लाभ से स्वर्ग के सुख एवं मोक्ष के सुख की प्राप्ति होती है, इत्यादि बातें आगे स्पष्ट करेंगे।'

....

- **प्रतिमाशतक ग्रंथमें पू.महोपाध्याय श्रीयशोविजयजी महाराजा 'स्तुतिः स्तुतित्रयं प्रसिद्धम्' इस प्रकार की स्तुति से तीन स्तुति को प्रसिद्ध बताते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि, चौथी स्तुति अविहित है। ग्रंथकारश्री चतुर्थस्तुति को विहित मानते हैं । यह आगे देखेंगे ।**

लेखक के अनुसार प्रतिमाशतक के भाषांतरकार ने जो बात कोष्टकमें कही है, वह किस आधार पर लिखी है, यह भी विचारणीय है। उन्होंने विचारामृत संग्रह ग्रंथ का अवलोकन किया होता तो वे यह विधान नहीं करते। क्योंकि, पू.आ.भ.श्री कुलमंडनसूरिकृत विचारामृसंग्रह ग्रंथमें स्पष्ट कहा गया है कि, श्रुतदेवतादि के कायोत्सर्ग पूर्वधरों के कालमें भी संभव थे। यह पाठ निम्नानुसार है।

"श्रीवीरनिर्वाणात् वर्षसहस्त्रे पूर्वश्रुतं व्यवच्छिन्नं । श्रीहरिभद्रसूरिस्तदनु पंचपंचाशता वर्षैः दिवं प्राप्ता तद्ग्रंथकरण-कालाच्चाचरणायाः पूर्वमेव संभवात् श्रुतदेवतादिकायोत्सर्गः पूर्वधरकालेऽपि संभवति स्मेति ॥"

भावार्थ : श्री वीर परमात्मा के निर्वाण से हजार वर्ष व्यतीत होने पर

पूर्वश्रुत का व्यवच्छेद हुआ। इसके बाद पचपन वर्ष बीतने पर श्रीहरिभद्रसूरिजी स्वर्ग गए। इन श्रीहरिभद्रसूरिजी के ग्रंथकरण काल से पहले भी आचरण होता था। इसलिए श्रुतदेवतादि का कायोत्सर्ग पूर्वधरों के काल में भी संभव था।

उपरोक्त शास्त्रपाठ स्पष्टरुप से दर्शाता है कि, क्षेत्रदेवता एवं आदि पद से वैचावच्चकारी देवताओं का कायोत्सर्ग पूर्वधर परमर्षियों के काल से चलता आ रहा था।

पूर्वधर परमर्षियों के सत्ताकाल के अत्यंत निकट ही पू.आ.भ.श्री हरिभद्रसूरिजी हुए थे। इसलिए उन्हें जो श्रुतविरासत एवं स्तुति परम्पराएं (आचरण) मिली होंगी,वे पूर्वधरों के काल से चली आ रही ही मिली होंगी, यह सहज ही समझा जा सकता हैं।

पू.आ.भ.श्रीने ललितविस्तरा ग्रंथमें वैयावच्चकारी देवी-देवता के कायोत्सर्ग करने व उनकी स्तुति करने की स्पष्ट कही है।

इसलिए पूर्वधरों के काल से देव-देवी के कायोत्सर्ग व उनकी थोय कहने की प्रवृति चल रही होगी, यह कहने में कोई दोष नहीं।

पू.महोपाध्याय श्रीयशोविजयजी महाराजा कृत प्रतिक्रमणादि हेतु गर्भित विधि निम्नानुसार है, जिसमें स्पष्ट देखने को मिलता है कि, देवसि प्रतिक्रमण करते समय प्रथम बार अधिकार सहित चैत्यवंदना करने को कहा गया है। इसमें चौथा कायोत्सर्ग 'वैयावच्चगराणं' का करने व उसकी थोय कहने को भी कहा गया है। तथा दूसरे पाठ में श्रुतदेवता-क्षेत्रदेवता का कायोत्सर्ग करने को कहा गया है, यह पाठ इस प्रकार है।

'पढम अहिगारे वंदु, भावजिणेसरु रे।
बीजे द्रव्यजिणंद त्रीजे रे, त्रीजे रे इग चेइय ठवणा जिणे रे ॥१॥
चौथे नाम जिन तिहुयण ठवणा जिन नमुं रे।
पंचमे छट्ठे तिम वंदु रे, वंदु रे विहरमान जिन केवली रे ॥२॥
सत्तम अधिकारे सुय नाणं वंदिये रे,

अठमी थुई सिद्धाण नवमे रे, नवमे रे थुई तित्थाहिव वीरनी रे ॥३॥
दसमे उज्जयंत थुई वलिय इग्यारमे रे,
चार आठ दस दोय वंदो रे, वंदो रे श्रीअष्टापद जिन कह्या रे ॥४॥
बारमे सम्यग्दृष्टि सूरनी समरणा रे,
ए बार अधिकार भावो रे, भावो रे, देव वंदना भविजना रे ॥५॥
वांदु छुं इच्छकारि समस श्रावको रे,
खमासमण चउदेइ श्रावक रे, श्रावक रे भावक सुजस इस्युं भणें रे ।६।
तित्थाधिप वीर वंदन रैवत मंडन, श्रीनेमि नति तित्थ सार ॥ चतुरनर ॥
अष्टापद नति करी सुयदेवया काउसग्ग नवकार ॥ चतुरनर ॥८॥ परि. ॥
क्षेत्रदेवता काउस्सग्ग इम करो, अवग्रह याचन हेत ॥ चतुरनर ॥
पंचमंगल कही पूंजी संडासग, मुहपत्ति वंदन देत ॥ चतुरनर ॥९॥ परि. ॥

- उपरोक्त पाठ में स्पष्ट रुप से देखने को मिलता है कि, देवसि प्रतिक्रमण के प्रारम्भमें बारह अधिकार सहित चैत्यवंदना करने को कहा गया है। इसमें चौथा कायोत्सर्ग 'वैयावच्चगराणं' का करने तथा उसकी थोय कहने को कहा गया है। तथा दूसरे पाठ में श्रुतदेवता–क्षेत्रदेवताका कायोत्सर्ग करने को कहा गया है।

  लेखक मुनिश्री जयानंदविजयजीने

"-उपा.श्री यशोविजयजी के समयमें आगमिक गच्छ उपस्थित था फिर भी उत्तराध्ययन सूत्रकी थयथुई शब्दकी व्याख्या 'स्तुतित्रय प्रसिद्धम्' कहकर किया।"

इस बात में जो इशारा किया है, वह स्पष्ट नहीं हैं। फिर भी वे ये कहना चाहते हों कि, आगमिक गच्छवाले तीन थोय मानते थे और फिर भी पू.उपाध्यायश्री ने स्तुतित्रय प्रसिद्ध है, ऐसा कथन करके आगमिक गच्छवालों की बात को अंशतः मान्य किया है। अर्थात् 'प्राचीन तो तीन थोय ही हैं, और चतुर्थ थोय तो अर्वाचीन है।' ऐसा पू.उपाध्याय म.श्रीने मान्य किया है।

यदि लेखकश्री का एसा कहनें का आशय हो तो वह भी असत्य है। क्योंकि, आगमिक गच्छकी उत्पत्ति व उसकी मान्यता के विषयमें पू.पं.श्री कल्याणविजयजीने त्रिस्तुतिक मत मिमांसा भाग-१ के पृष्ठ ४७ पर विस्तृत चर्चा की है। यह निम्नानुसार है।

"लेखक कहते है कि, (त्रिस्तुतिकमत के लेखक कहते है कि,) 'संवत् (१२५०)में श्रीसौधर्मसिद्धांतिक गच्छमें से आगमिक मतोत्पत्तिके करनेवाले श्रीशीलभद्राचार्य हुये तिन्होंने सर्वथा चोथी थुइ उत्थापके एकांत तीन थुई के देववंदन स्थापन किये'

सरासर असत्य है, आगमिकमतोत्पत्ति के करनेवाले आचार्य का नाम शीलभद्र नहीं था किंतु 'शीलगण' था और उन ने सौधर्मसिद्धान्तिक गच्छमें से यह मत नहीं निकाला, वे पहले पौर्णमीयक गच्छ में थे बाद उसमें से निकलकर अंचल गच्छ में आये और पीछे आगमिक मत निकाला (देखो प्रवचन परीक्षा पत्र ३०६)

आगमिकों ने राजेन्द्रसूरिजी की तरह तीन थुई का मत नहीं निकाला, उन का मात्र यह कथन था कि श्रुतदेवतादि के पास मोक्षकी प्रार्थना नहीं करनी चाहिये, वे यों नही कहते थे कि सम्यगदृष्टि देवकी स्तुति करने से सम्यक्त्व मलीन हो जाता है या सामायिकादिक में चतुर्थस्तुति करने से आश्रव लग जाता है।"

पू.महोपाध्याय श्रीयशोविजयजी महाराजा को प्रतिमाशतक ग्रंथ में स्थापना निक्षेपा की पूजनीयता एवं फलप्रापकता सिद्ध करनी थी। इसलिए उत्तराध्ययन सूत्र के २९वें अध्ययन के (पूर्व में वर्णित) '**थयथुई**' वाले पाठ को प्रस्तुत किया है। तथा '**थयथुई**' पाठगत 'स्तुति' पद का अर्थ प्रसिद्ध स्तुतित्रय किया है। इस अर्थ में ऐसा लगता है कि, '**थयथुई**' वाले पाठमें स्तवन एवं स्तुति के फलस्वरुप रत्नत्रयी एवं बोधिलाभ दर्शाए गए हैं और चार थोय की देववंदना में तीन स्तुति का फल रत्नत्रयी व बोधि लाभ है। जबकि चतुर्थ स्तुतिका फल

विघ्नोपशम, समाधिलाभ तथा बोधि है। इसलिए '**थयथुई**' पाठगत जो फल बताया गया है, उसके अनुकूल कारण बताने के लिए तीन स्तुति बताई होंगी। परन्तु '**स्तुतित्रयं प्रसिद्धम्**' इस पद से चतुर्थ स्तुति के लिए अरुचि प्रकट नहीं की है।

उन्होंने तो स्वरचित 'प्रतिक्रमण हेतु गर्भित विधि' में चतुर्थ स्तुतिको प्रतिक्रमण की आद्यंतमें की जानेवाली चैत्यवंदनामें विधि के तौर बताया है।

पू.आ.भ.श्री हरिभद्रसूरिजी कृत योगविंशिका ग्रंथ की गाथा-११ की टीका में पू.महोपाध्याय श्रीयशोविजयजी महाराजाने "**प्रथमे दण्डकेऽधिकृत तीर्थकृद् द्वितीये सर्वे तीर्थकृत:, तृतीये प्रवचनम्, चतुर्थे सम्यग्दृष्टि: शासनाधिष्ठायक:**" कहकर चतुर्थ स्तुतिको मान्य किया है.

प्रतिमाशतक में '**थयथुई**' पाठ का जो अर्थ किया गया है, वह 'थयथुई' पाठ जिस उत्तराध्ययन सूत्र के २९वें अध्ययन का है उसकी पू.आ.भ.श्री शांतिसूरिजी कृत बृहद्वृत्ति में '**थयथुई**' की टीका करते हुए कहा गया है कि,

स्तवा-देवेन्द्रस्तवादय: स्तुतय:-एकादिसप्तश्लोकान्ता; यत उक्तम् - "एगदुगतिसिलोगा (थुइओ) अन्नेसिं जाव हुंति सत्तेव। देविंदत्थवमाई तेण परं थुत्तया होंति ॥१॥"

उपरोक्त पाठ में स्तुतियां एक, दो, तीन यावत् सात श्लोक प्रमाण जानें, ऐसा कहा गया है।

प्रतिमाशतक एवं उत्तराध्ययन सूत्र की बृहद्वृत्ति, दोनों पाठ में स्तुति की संख्या अलग-अलग बताई गई है। इसलिए प्रतिमाशतक के 'स्तुतित्रयं प्रसिद्धम्' पद से त्रिस्तुतिक मतकी मान्यता सिद्ध नहीं होती हैं।

इस प्रकार लेखकश्री ने कुतर्क करके अपनी मान्यता को सिद्ध करने का जोरदार प्रयत्न किया है, यह पाठक समझ सकते हैं। किन्तु इस प्रकार झूठी मान्यता सच्ची नहीं बन जाती है। **त्रिस्तुतिक मतवाले जहां भी 'त्रिस्तुति',**

'तिन्नि वा' इस प्रकार के पद देखने को मिलते हैं, उन पदों के (शास्त्रपाठों के) आसपास के संदर्भ बिना सोचे-समझे उठाकर अपनी मान्यता के पक्षमें रख देते हैं किन्तु इस प्रकार सफल नहीं हो सकते।

अंततः फलितार्थ यह है कि, पू.उपाध्यायजी महाराजा एवं पू.आ.भ.श्री शांतिसूरिजी महाराजा समर्थ शास्त्रकार परमर्षि हैं। उन्होंने चतुर्थ स्तुति को मान्य किया है। स्वरचित ग्रंथोमें इसका उल्लेख भी किया है। विरोधी पक्ष को निरुतर करने के लिए आगम वचन से तथा युक्तिपूर्वक चतुर्थस्तुति को सिद्ध भी किया है

इससे पाठकों को स्वयं सोचना है कि, शास्त्रकार परमर्षि सच्चे हैं या 'सत्य की खोज' पुस्तक के लेखक सच्चे हैं ?

(प्रतिमाशतक ग्रंथ में गाथा-२६ की टीकामें कहा गया है कि,)

न च देवगृहेऽपि स्तुतित्रयकर्षणात्परतोऽवस्थानमनुज्ञातं साधूनामिति विधिवन्दनाद्यर्थधर्मस्थाने नोक्तदोषः।

(उपरोक्त पाठ का भावार्थ देखने से पहले ग्रंथकारश्रीने किसकी चर्चा में उपरोक्त विधान किया है, यह देख लें। संवास अनुमोदना की चर्चा चलती है। हिंसा के स्थान पर रहने से संवास अनुमोदना लागू होती है, और हिंसा के स्थल से दूर रहने से संवास अनुमोदना नहीं लगती। (यह चर्चा साधु-भगवंतो के लिए है यह ध्यान रहे।) यहां ग्रंथ में अनायतन का अर्थ हिंसा का आयतन किया गया है। अनायतन में रहने से अनुमोदना लगती है। साधु सर्वथा हिंसा से त्यागी होने के कारण अनायतन सेवी भी नहीं। उससे दूर हैं। इसलिए साधुओं को संवास अनुमोदना नहीं लगती।

ऐसी प्ररुपणा पू.उपाध्याय श्रीयशोविजयजी महाराजाने की है। तब प्रतिमालोपक (स्थानकवासी पक्ष)ने दलील की है कि, जिनालय में श्रावक पुष्पादि से पूजा करते हैं और इसलिए जिनालय पुष्पादि का आयतन ही अनायतन=हिंसा का स्थान है और साधु जिनालय में जाते हैं। इसलिए वे

अनायतनसेवी होने के कारण उन्हें संवासानुमति लगती है।

पूर्वपक्ष की इस दलील में ग्रंथकारश्रीने कहा कि, समवसरण में भी देवताओं द्वारा पुष्पवृष्टि होती है और इसके बावजूद साधु समवसरण में देशना सुनते हैं। इसलिए समवसरण में जानेवाले साधुओं को संवासानुमति का दोष लगने की आपत्ति आएगी। परन्तु ऐसा नहीं हैं। इसमें दोष नहीं माना गया है।

जबकि स्थानकवासी (पूर्वपक्षी) कहते हैं कि साधु, समवसरण में देशना सुनने तक ही रहते हैं। अधिक समय तक नहीं रहते। इसलिए अनायतन का अवसर नहीं आता। (अर्थात् साधु अनायतनसेवी बनता नही है।)

तब ग्रंथकार ने पूर्वपक्ष की बात को आगे धरकर स्पष्टता की कि, जैसे समवसरण में साधु देशना सुनने के अलावा नहीं रुकते। वैसे ही जिनालय में भी व्यवहार भाष्य की '**तिन्निवा**' तथा '**दुब्भिगंध**' इन दो गाथाओं के आधार पर तीन स्तुति का पठन करने से अधिक रहने की अनुज्ञा नहीं, ऐसा कहते हैं और इसलिए अनायतन सेवना का दोष नहीं।

पूर्व में एक प्रश्न के उत्तर में '**तिन्निवा**' गाथा के तात्पर्य की विस्तार से चर्चा की है।

व्यवहारभाष्य की इस '**तिन्निवा**' गाथा की टीका तथा पू.आ.भ.श्री धर्मघोषसूरिजीके संघाचारभाष्यमें इस बारे में स्पष्टता का अर्थ यह है कि, साधु भगवंत जिनमंदिर में नहीं रुकते। अथवा प्रतिक्रमण के अंतमें जैसे मंगल के अवसर पर '**नमोऽस्तु वर्धमानाय०**' तथा '**विशाललोचन०**' बोला जाता है, वैसे ही चैत्यवंदन के अंत में प्रणिधानार्थ मंदिर में रहने की अनुज्ञा है। कारण विशेष में अधिक समय रुकने की भी अनुज्ञा है। निष्कारण नहीं।)

इसी बात को ग्रंथकारने (पूर्व में दर्शाए अनुसार) निम्नलिखित शब्दोंमें प्रस्तुत किया है।

....न च देवगृहेऽपि स्तुतित्रयकर्षणात्परतोऽवस्थानमनुज्ञातं

साधूनामिति विधि वन्दनाद्यर्थधर्मस्थाने नोक्तदोषः।

-जिनालय में भी साधुओं को तीन स्तुति बोलने से अधिक रुकने की अनुज्ञा नहीं। इसलिए विधि-वंदनादि के लिए रुकने में उपरोक्त दोष नहीं।

लेखक श्रीजयानंदविजयजी ने '**सत्यकी खोज**' पुस्तक के नूतन संस्करण के पृष्ठ-६३ पर प्रश्न-७३ के उत्तरमें प्रतिमाशतक गाथा-२६ की टीका का उपरोक्त पाठ रखकर त्रिस्तुतिक मत को सिद्ध करनेका प्रयास किया है। परन्तु यह असत्य है।

लेखक ने उनकी पुस्तकमें पृष्ठ-६३ पर निम्नानुसार प्रश्नोत्तरीकी है।

"क्या प्रतिमाशतक में तीन स्तुति का निरुपणा है ? हां गाथा नं-२की टीका में अत्र स्तवः स्तवनं स्तुतिः स्तुतित्रयं प्रसिद्धं।

यहां तीन स्तुतिका विधान किया है।

गाथा-२६मी टीकामें

'न च देवगृहेऽपि स्तुतित्रयकर्षणात्परतोऽवस्थानमनुज्ञातं साधुनामिति।'

यहां पर भी तीन स्तुति करे वहां तक ही जिनमंदिरमें साधुओं को रहेना का विधान किया है। परिशिष्टमें विवेचन देखें।"

समीक्षा : मुनिश्री जयानंदविजयजी की उपरोक्त बात असत्य है। क्योंकि,

१. मुनिश्री प्रतिमाशतक की गाथा-२की टीका '**अत्र स्तवः स्तवनं स्तुतिः स्तुतित्रयं प्रसिद्धम्**' इस पाठ के आधार पर त्रिस्तुतिक मत का समर्थन करते हैं। जो असत्य हैं। ग्रंथकार परमर्षिने यह पाठ त्रिस्तुतिक के समर्थन के लिए नहीं दिया और न ही चतुर्थस्तुति की अविहितता के लिए दिया है। यह बात पूर्व में विस्तार से प्रस्तुत की गई है।

२. प्रतिमाशतक की गाथा-२६की टीका का उपरोक्त 'न च.... साधुनामिति' का पाठ व्यवहारभाष्य की 'तिन्निवा' गाथा के आधार पर साधुओं को जिनमंदिर में अधिक समय तक नहीं रुकने के लिए

कहनेवाला हैं । परन्तु त्रिस्तुतिक का समर्थन करने और चतुर्थस्तुति का खंडन करने के लिए नहीं दिया गया है । इसका भी पूर्वमें विस्तार से वर्णन किया ही है ।

३. गाथा-२ व गाथा-२६की टीकाके पाठों का परस्पर सम्बंध नहीं है । अर्थात् दोनों का तात्पर्य एक नहीं है । भिन्न-भिन्न है । प्रथम पाठ का तात्पर्य यह है कि, रत्नत्रयी एवं बोलिलाभ स्वरुप फल के कारण के तौर पर अरिहंत परमात्मा, स्थापना अरिहंत एवं आगम, ये तीन स्तुति बताई गई हैं, इनमें स्थापना अरिहंत के आगे भी स्तव-स्तुति करने को उत्तराध्ययन सूत्र के २९ वें अध्ययन में कहा गया है और इसलिए स्थापना अरिहंत-स्थापना निक्षेप भी पूजनीय ही हैं । **संक्षिप्त में प्रथम पाठ स्थापना निक्षेपाकी पूज्यनीयता दर्शाने के लिए रखा गया है । त्रिस्तुतिक मतकी मान्यता को सही ठहराने के लिए अथवा त्रिस्तुति प्राचीन है और चतुर्थस्तुति अर्वाचीन है, यह बताने के लिए नहीं ।**

गाथा-२६ की टीका के पाठ का तात्पर्य यह है कि साधुओं को जिनमंदिर में अधिक समय तक रुकनेकी अनुज्ञा नहीं । इसलिए साधु जिनमंदिरमें ज्यादा नहीं रुकते । और इसीलिए अनायतन के पोषक नहीं बनते हैं । इससे उन्हें संवास अनुमोदना का दोष नहीं लगता ।

इस प्रकार दोनों के बीच परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है ।

४. लेखक श्रीजयानंदविजयजी शास्त्रपाठों के तात्पर्य को जाने बिना मात्र जहां-जहां 'त्रिस्तुति' 'तिन्निवा' जैसे शब्द प्रयोग हुए हैं । उन्हें उठाकर अपनी मान्यता का समर्थन करने में लग जाते हैं । इस बारे में बृहत्कल्प भाष्यमें एक अल्प जानकारीवाले पंडित की कथा आती है । जो चतुर्थ स्तुति निर्णय भाग-२में देखें ।

५. लेखकश्री जयानंदविजयजीने 'सत्यकी खोज' पुस्तक के परिशिष्ट में पृष्ठ-२०८ पर जो चर्चा की है, उसका खंडन पूर्वमें किया ही है ।

इस प्रकार निश्चित होता है कि, प्रतिमाशतक व उस ग्रंथ के कर्ता

पू.महोपाध्याय श्रीयशोविजयजी महाराजाके नाम से लेखक ने जो दुष्प्रचार किया है, वह शास्त्र विरोधी, प्रतिमाशतक के ग्रंथकार की मान्यता से विरुद्ध है और उपेक्षणीय है। भव्यात्माओं से इसमें नहीं फसने का अनुरोध।

प्रश्न : क्या प्रतिक्रमणमें चतुर्थस्तुति का निषेध करना, शास्त्रवचन आदिका अपलाप है?

उत्तर : हां, शास्त्र तथा शास्त्रमान्य सुविहित परम्परा का अपलाप है। क्योंकि, अनेक शास्त्रों में चतुर्थ स्तुति को विहित एवं उपयोगी कहा गया है। सुविहित परम्परा में हुए हजारों पूर्वाचार्योंने चतुर्थ स्तुति को देववंदन व प्रतिक्रमण में मान्य किया है।

यहां हम सुविहित आचार्य भगवंतो द्वारा रचित ग्रंथो के नाम दे रहे हैं। इनमें चतुर्थ स्तुति को मान्य किया गया है और त्रिस्तुतिक मत मानने से निम्नलिखित पूर्वाचार्यों व उनके द्वारा रचित ग्रंथ तथा सुविहित सामाचारी का विरोध होता है।

१. प.पू.आ.भ.श्री हरिभद्रसूरिजी महाराजा व उनके द्वारा रचित ललित विस्तरा ग्रंथ, पंचवस्तुक ग्रंथ का विरोध होता है। क्योंकि, श्री ललितविस्तरा में चतुर्थ स्तुति को विहित एवं उपयोगी कहा गया है तथा पंचवस्तुक ग्रंथ में क्षेत्रदेवतादि का कायोत्सर्ग करने को कहा गया है।

२. प.पू.आ.भ.श्री नेमिसूरिजी महाराजा व उनके द्वारा रचित प्रवचन सारोद्धार ग्रंथ का विरोध होता है। क्योंकि, इस ग्रंथमें चतुर्थ स्तुति को मान्य किया गया है तथा प्रतिक्रमण की आद्यंतकी चैत्यवंदना चार थोय से करने को कहा गया है। प्रतिक्रमण में यथास्थान श्रुतदेवता-क्षेत्रदेवता का कायोत्सर्ग करने को कहा गया है।

३. प्रवचन सारोद्धार की टीका के कर्ता पू.आ.भ.श्री सिद्धसेनसूरिजी महाराजा का विरोध होता है।

४. आम राजा के प्रतिबोधक महाप्रभावक **पू.आ.भ.श्री बप्पभट्टसूरिजी महाराजाने २४ तीर्थंकर परमात्मा की एक थोय के साथ तीन थोय रची हैं। इसमें एक सर्वजिन की, एक श्रुतज्ञान की, एक शासन देवता की। इस प्रकार ९६ थोय रची हैं। उनका भी विरोध होगा। (उनका जन्म वि.सं.८०२में हुआ था।)**

५. प.पू.आ.भ.श्री जिनेन्द्रसूरिजी म. के शिष्य तथा नवांगी वृत्तिकार श्रीअभयदेवसूरिजी के गुरुभाई श्रीशोभनमुनि ने शोभन स्तुति में चौबीस जिन के सम्बन्ध से चौबीश जोड़े=९६ थोय की रचना की है।

इससे यह फलित होता है कि, नवांगी वृत्तिकार श्री अभयदेवसूरिजी तथा उनके गुरुश्री जिनेन्द्रसूरिजी गुरु प्रमुख गुरु परम्परा से सभी चार थोय मानते थे।

यदि चार थोय नहीं मानते थे, ऐसा कोई कहे, तो उनके शिष्य तथा गुरु भाईने क्यों चौथी थोय की रचना की होगी?

६. श्री उत्तारध्ययन सूत्र के बृहद्वृत्तिकार **पू.आ.भ.श्रीशांतिसूरिजी महाराजा ने संघाचार चैत्यवंदन महाभाष्यमें** चार थोय कही हैं। (उनका विरोध होगा।)

७. क्रियोद्धार के कर्ता, तपस्वी, महाप्रभावक, राणा की सभामें ३३ क्षपणकाचार्यों को वादमें जीतनेवाले 'तपा' के उपमाधारी **पू.आ.भ.श्री जगत्चंदसूरिजी महाराजाके** शिष्य परम संवेगी ज्ञान भास्कर, **पू.आ.भ.श्रीदेवेन्द्रसूरिजीने लघुभाष्यमें (देववंदन भाष्य में) चार थोय कही हैं।**

८. श्री बृहद्गच्छैकमंडन पू.आ.भ.श्री मुनिचंद्रसूरिजीने ललितविस्तरा पंजिका में तथा उनेक शिष्य **पू.आ.भ.श्रीवादिदेवसूरिजीने यतिदिनचर्यामें** चार थोय कही हैं।

९. नवांगी वृत्तिकार श्रीअभयदेवसूरिजी के शिष्य **श्रीजिनवल्लभसूरिजीने सामाचारी में** चार थोय कही हैं।

१०. कलिकाल सर्वज्ञ **श्रीहेमचंद्रसूरिजीने योगशास्त्रमें** चार थोय का समर्थन किया है।

११-(i) पू.आ.भ.श्री कुलमंडनसूरिजीने **विचारामृत संग्रह ग्रंथमें....**

(ii) पू.आ.भ.श्री सोमसुंदरसूरिजीने **स्वकीय सामाचारीमें......**

(iii) पू.आ.भ.श्री देवसुंदरसूरिजीने **स्वकीय सामाचारीमें...**

(iv) पू.आ.भ.श्री नरेश्वरसूरिजीने **स्वकीय सामाचारीमें.....**

(v) पू.आ.भ.श्री तिलकाचार्यजीने **स्वकीय सामाचारीमें.....**

(vi) पू.आ.भ.श्री भावदेवसूरिजीने **यतिदिनचर्यामें....**

(vii) कुरोज बादशाह प्रतिबोधक पू.आ.भ.श्री जिनप्रभसूरिजीने **विधिप्रपामें...**

(viii) पू.आ.भ.श्री जयचंद्रसूरिजीने **प्रतिक्रमण गर्भित हेतु** ग्रंथमें..... चैत्यवंदना में चार-चार थोय कहने की बात कही है।

१२- (i) पू.महोपाध्याय श्रीमानविजयजी महाराजाने **धर्मसंग्रह ग्रंथमें...**

(ii) पू.महोपाध्याय श्रीयशोविजयजी महाराजाने **प्रतिक्रमण गर्भितहेतुमें...**

(iii) श्रीनमि नामक साधु भगवंत ने **षडावश्यक बालावबोधमें** चार थोय कही हैं।

इत्यादि अन्य आचार्यों ने भी चार थोय कहने की बात कही हैं।

इस प्रकार इन सभी पू.आचार्य भगवंतो की गुरु परम्परा में तथा शिष्य परम्परा में. हजारों पू.आचार्यो भगवंतोने चार थोय को मान्य किया है। और आचरण किया है। इसलिए सुज्ञजन समझ सकतें हैं कि, त्रिस्तुतिक मत शास्त्रविरोधी एवं पूर्वाचार्यों की सामाचारी से विरुद्ध हैं। असत्य-मिथ्या आग्रहसे प्रारम्भ हुआ था और तुरंत लुप्त हो गया था। यह मत शास्त्रों व शास्त्रमान्य सुविहित परम्परा का अपलाप करता है।

प्रश्न : क्या पू.आ.भ.श्री हरिभद्रसूरिजी से पहले प्रतिक्रमणमें श्रुतदेवता आदि के कायोत्सर्ग होते थे ? श्रुतदेवता आदि की स्तुति बोली जाती थी ? श्रुतदेवता-क्षेत्रदेवताका प्रतिदिन कायोत्सर्ग करने का विधान किस ग्रंथ में है ? यह कायोत्सर्ग करने से क्या लाभ होता हैं ?

उत्तर : पू.आ.भ.श्री हरिभद्रसूरिजी से पहले भी प्रतिक्रमण में श्रुतदेवता आदि के कायोत्सर्ग होते थे। इसका साक्षी '**विचारामृत संग्रह**' ग्रंथ है। इस ग्रंथ में पू.आ.भ.श्री कुलमंडनसूरिजीने कहा है कि

"श्री वीरनिर्वाणात् वर्षसहस्त्रे पूर्वश्रुतं व्यवच्छिन्नं ॥ श्रीहरिभद्रसूरयस्तदनु पंचपंचाशता वर्षैः दिवं प्राप्ताः तद्ग्रंथकरण-कालाच्चाचरणायाः पूर्वमेव संभवात् श्रुतदेवतादिकायोत्सर्गः पूर्वधरकालेऽपि संभवति स्मेति ॥"

भावार्थ : श्री वीर परमात्माके निर्वाण से हजार वर्ष व्यतीत होने के बाद पूर्वश्रुतका व्यवच्छेद हुआ। इसके बाद पचपन (५५) वर्ष गुजरने के पश्चात् श्री हरिभद्रसूरिजी स्वर्ग गए। इन श्री हरिभद्रसूरिजी के ग्रंथकरण के काल से पहले भी आचरण जारी था। इसलिए श्रुतदेवतादिक के कायोत्सर्ग पूर्वधरों के काल में भी संभव थे।

पू.आ.भ.श्री हरिभद्रसूरिजी ने पंचवस्तु ग्रंथमें गाथा-४९१के उत्तरार्ध में कहा है कि......

आयरणा सुअदेवयमाईणं होइ उस्सग्गो ॥४९१॥

श्रुतदेवता आदि कायोत्सर्ग आचरण से होता है। (आदि पद से क्षेत्रदेवता एवं भवनदेवता का कायोत्सर्ग ग्रहण करें।) **पू.आ.भ.श्री के समय से पूर्व के कालमें श्रुतदेवतादि के कायोत्सर्ग होते हों तब ही पू.आ.भ.श्री कह सकते हैं कि, आचरण से श्रुतदेवतादि का कायोत्सर्ग होता है और उनके पूर्व का काल पूर्वधर महर्षियों का था। इससे सिद्ध होता है कि, पूर्वधरों के काल से श्रुतदेवतादि का कायोत्सर्ग होता है।** किसी को प्रश्न होगा कि, श्रुतदेवतादि

का कायोत्सर्ग तो चौमासी आदि के प्रतिक्रमण में करने को कहा गया है, तो फिर वर्तमान में प्रतिदिन क्यों किया जाता है?

इस प्रश्न का उत्तर जीवानुशासन ग्रंथ देता है। इस ग्रंथ के रचयिता श्रीकुमुदचंद्र दिगम्बर को वाद में जीतनेवाले, ३३ हजार मिथ्यादृष्टियों के घरों को प्रतिबोध करनेवाले, ८४ हजार श्लोक प्रमाण स्याद्वाद रत्नाकर ग्रंथ के रचयिता सुविहित शिरोमणि पू.आ.भ.श्री देवसूरिजीने रचा है। इस जीवानुशासन ग्रंथ का यह पाठ इस प्रकार है।

"ननु यदि चतुर्मासिकादिभणितमिदं किमिति सांप्रतं नित्यं क्रियत इत्याह-

संपइ निच्चं कीरइ संनिज्जा भावओविसिद्धाओ।
वेयावच्चगराणं, इच्चाइ वि बहुयकालओ ॥१००३॥

व्याख्या ॥ सांप्रतमधुना नित्यं प्रतिदिवसं क्रियते विधीयते कस्मात् सांनिध्याभावस्तस्य कारणाद्विशिष्टादतिशायिनो वैयावृत्त्यकराणां प्रतीतानामित्याद्यपि न केवलं कायोत्सर्गादीत्यपेरर्थः। आदिग्रहणात्संति-कराणामित्यादि दृश्यं प्रभूतकालात् बहोरनेहस इति गाथार्थः ॥"

भावार्थ : पूर्वपक्ष : यदि चातुर्मासी आदि में क्षेत्रदेवतादि का कायोत्सर्ग करने को श्रीभद्रबाहुस्वामीजीने कहा है, तो फिर संप्रतिकालमें=वर्तमानकालमें प्रतिदिन कायोत्सर्ग क्यों किया जाता है?

उत्तरपक्ष : वर्तमानकालमें नित्य प्रतिदिन जिस क्षेत्रदेवतादि का कायोत्सर्ग सान्निध्याभाव होने से अर्थात् पूर्वकालमें जब-तब कभी भी एक बार कायोत्सर्ग करने से वे देव शासन की प्रभावना के अवसर पर उपद्रवों को नष्ट करते थे। जबकि वर्तमानकालमें कालदोष से जब-तब एक बार कायोत्सर्ग करने से सांनिध्य नहीं करते। इसलिए उन्हें प्रतिदिन जागृत करने पर वे सांनिध्य करते हैं। इसलिए नित्य प्रतिदिन कायोत्सर्ग किए जाते हैं।

ये कायोत्सर्ग करने से विशेष अतिशयवान वैयावृत्त्य करनेवाले जो देवता

हैं, वे जागृत होते हैं।

मात्र वैयावृत्त्य करनेवाले प्रसिद्ध देवताका ही कायोत्सर्ग नहीं किया जाता हैं। बल्कि शांति स्थापित करनेवाले (शांतिकराणं,) इत्यादि देवताओं का भी कायोत्सर्ग ग्रहण करें।

प्रभूतकाल से अर्थात् काफी लंबे समय से पूर्वधरों के काल से पूर्वोक्त देवताओं का प्रतिदिन पूर्वाचार्य कायोत्सर्ग करते आए हैं। इसलिए पूर्वोक्त देवताओं का नित्य कायोत्सर्ग किया जाता हैं। यह गाथार्थ है।

....

प्रश्न : श्रुतदेवता का कायोत्सर्ग करने से क्या लाभ होता है ? और श्रुतदेवताको न मानने से क्या नुकसान होता है ?

उत्तर : आवश्यकसूत्रमें कहा गया है कि, श्रुतदेवताको न मानने से, उनके विषयमें कुछ भी बोलने से उनकी आशातना होती है, और प्रशस्त मनसे श्रुतदेवताका आलंबन करके कायोत्सर्ग करते हैं, उनका कर्मक्षय होता है। इस संदर्भ में पाठ इस प्रकार है।

"सुयदेवयाए आसायणाए ॥ व्याख्या श्रुतदेवतायाः आशातनया। क्रिया तु पूर्ववत् ॥ आशातना तु श्रुतदेवता न विद्यते अकिंचित्करी वा। न ह्यनधिष्ठितो मौनीन्द्रः खल्वागमः अतोऽसावस्ति न चाकिंचित्करी तामालम्ब्य प्रशस्तमनसः कर्मक्षयदर्शनात्।"

भावार्थ : श्रुतदेवताकी इस प्रकार से आशातना होती है। "श्रुतदेवता नहीं है अथवा वे हैं तो उनकी कोई शक्ति नहीं है। अर्थात् श्रुतदेवता नहीं हैं अथवा हैं तो अकिंचित्कर हैं"-ऐसा कहनेवाले श्रुतदेवताकी आशातना करनेवाले होते हैं। क्योंकि, भगवान द्वारा प्ररुपित आगम अनधिष्ठित नहीं हैं। अर्थात् भगवान द्वारा प्ररुपित आगमों के अधिष्ठाता देवता हैं। इसलिए श्रुतदेवता की विद्यमानता है। श्रुतदेवताको अकिंचित्कर कहना मिथ्या है। क्योंकि, जो श्रुतदेवता का आलंबन

करके कायोत्सर्ग करते हैं, उनका कर्मक्षय होता है। (कर्मक्षय होता देखने को मिलता है।)

ठाणांगसूत्रमें कहा गया है कि, श्री अरिहंत परमात्मा, श्री अरिहंत द्वारा प्ररुपित धर्म, आचार्य, श्रमणप्रधान संघ तथा देवता का वर्णवाद करता है, वह सुलभबोधित्व को प्राप्त करानेवाले कर्म का उपार्जन करता है और वो पांच का अवर्णवाद करता है, वह दुर्लभबोधित्व को प्राप्त करानेवाला कर्म उपार्जित करता है।

ठाणांगसूत्रमें देवताका अवर्णवाद निम्नानुसार बताया गया है।

"तथा विपक्वं सुपरिनिष्ठितं प्रकर्षपर्यंतमुपगतमित्यर्थः । तपश्च ब्रह्मचर्यं तद्हेतुकं देवायुष्कादिकं कर्म येषां ते तथा तेषामवर्णं वदन् न सन्त्येव देवाः कदाचनाप्यनुपलभ्यमानत्वात् किं वा तैर्विटैरिव कामासक्तमनोभिरविरतैस्तथा निर्मिमेषैरचेष्टैश्च म्रियमाणैरिव प्रवचन-कार्यानुपयोगिभिश्चैत्यादिकं इहोत्तरं संति देवास्तत्कृतानुग्रहो-पघातादिदर्शनात् कामासक्ताश्च मोहशाताकर्मोदयादित्यादि। अभिहितं च

एत्थ पसिद्धीमोहणीयसायवेयणियकम्मउदयाउ ।
कामासत्ताविरई, कम्मोदयउवियनतेसिं ॥१॥
अणमिसदेवसहावो निचेठाणुत्तराइकयकिच्च ।
कालाणुभावतित्थुण्णइंपि अन्नत्थ कुव्वंतिति ॥२॥

देववर्णवादो यथा।

देवाण अहो सीलं विसयविसमोहिया वि जिणभवणे ।
अत्थरसाहिंपि समं, हासाई जेण न करंतिति ॥१॥

भावार्थ : तथा (विपक्वं०) अतिशय करके पर्यंतता को प्राप्त किया है तप एवं ब्रह्मचर्य भवांतरमें जिनके अथवा (विपक्वं०) उदय प्राप्त किया है तप एवं ब्रह्मचर्यरुपी उद्देश्य से देवताके आयुष्य कर्म जिनके, उन देवताओं का अवर्णवाद बोले। जैसे कि, "देवता कभी भी देखने में नहीं आते। यदि हो तो भी

वह विटपुरुष अर्थात् अत्यंत कामी पुरुष की तरह कामासक्त होने से क्या काममें आयेगा ? तथा वे देव अविरतिधर है, उससे हमे क्या प्रयोजन हैं ? तथा जिनकी आंखे नहीं मिचती हैं, इसलिए चेष्टारहित होने से मृततुल्य पुरुष के समान हैं। जैन शासनके किसी भी काम में नहीं आते।" इत्यादि अनेक प्रकार से पूर्वोक्त देवताओं का अवर्णवाद बोले, (वह जीव इस प्रकार का मोहनीय कर्म बांधता हैं कि, उस कर्म के प्रभाव से उस जीव के लिए जैनधर्मकी प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है। क्योंकि, यहां टीकाकार श्रीअभयदेवसूरिजी उत्तर देते हैं कि,) अनुग्रह तथा उपघातको देखने से देवता हैं। अर्थात् देवताओं द्वारा किए गए अनुग्रह तथा उपघात देखने से देवता की उपस्थिति सिद्ध होती है। देवता जो कामासक्त हैं, वे शाता वेदनीय एवं मोहनीय कर्म के उदय से हैं। अविरति कर्म का उदय होने से विरति नहीं है। देवभव के स्वभाव से आंख नहीं मिचती और जो अनुत्तरवासी देव चेष्टारहित है, उसमें वह देव कृतकृत्य होने से उन्हें कोई भी कार्य करने का नहीं रहता है। इसलिए चेष्टारहित हैं। वर्तमानमें तीर्थ की प्रभावना नहीं करते, इसमें कालदोष है। अन्य स्थल पर करते भी हैं। इसलिए देवताओं का अवर्णवाद बोलना युक्त नहीं।

(अब उन देवताओं का वर्णवाद करने से जीव सुलभबोधि होता है।) जैसे कि, देवताओं का कैसा शुभ आश्चर्यकारी शील है। मन विषय से विमोहित होने के बावजूद जिनभवनमें देवांगनाओं के साथ हास्यादिक नहीं करते। इत्यादि देवताओं का गुण बोले जाएं तो सुलभबोधित्व का कर्म उपार्जित करता है।)

श्रुतदेवतादिकी स्तुति बोलने में उनका वर्णवाद होता है। ठाणांग सूत्रमें देवताओं का वर्णवाद दोषरुप नहीं कहा गया है, बल्कि गुणरुप कहा गया है।

इसलिए श्रुतदेवतादि के कायोत्सर्ग पूर्वधरों के कालसे किए जाते हैं और इसमें कोई दोष नहीं। गुण ही है। आज्ञापालनका गुण है। उचित के विषयमें

औचित्य पालन का गुण है।

गुण को दोष बताना, यह बुद्धि का विपर्यास है।

इस प्रकार विचारामृत संग्रह, पंचवस्तु, जीवानुशासन, आवश्यकसूत्र, *ठाणांगसूत्र आदि के पाठ देखने के बाद श्रुतदेवतादि के कायोत्सर्ग के विषयमें* कोई शंका ही नहीं रहती हैं। फिर भी मुनिश्री जयानंदविजयजी मताग्रह से विचारामृत संग्रहादि ग्रंथोके पाठों की उपेक्षा करके **'सत्य की खोज' पुस्तक के पृष्ठ-६७ पर प्रश्न-३१२ के विस्तृत उत्तरमें** निराधार दलीलें कर रहे हैं। इन सभी दलीलों पर लिखने बैठें तो काफी पन्ने भर जाएंगे। इसलिए कुछ मुद्दों पर ही प्रकाश डालेंगे।

-पंन्यास श्रीकल्याणविजयजी म.सा.की **'प्रतिक्रमण विधि संग्रह'** नामक पुस्तक के आधार पर कई उलटी सुलटी बातें करते हैं। पंन्यासजी महाराजने यहां श्रुतदेवतादि के कायोत्सर्ग को अविहित नहीं बताया है। मात्र उसके इतिहास के विषयमें अपनी अनभिज्ञता बताई है। लेखक श्रीजयानंदविजयजी उसे आगे धरकर पूर्वाचार्यों की प्रवृत्ति का खंडन करने लगे हैं। परन्तु लेखक से प्रश्न है कि, **आवश्यक चूर्णि आदिमें प्रतिक्रमण के प्रारम्भ के चैत्यवंदन की विधि बताई ही नहीं है। प्रवचन सारोद्धार आदि ग्रंथोमें १२ अधिकारपूर्वक चैत्यवंदना की विधि बताई है। तो आप उस समय इन दोनों ग्रंथो के बीच के इतिहास के बारेमें कोई विकल्प किए बिना प्रतिक्रमण की प्रारम्भ की चैत्यवंदना करना क्यों प्रारम्भ किया है? इसका उत्तर देंगे।**

प्रवचन सारोद्धार में १२ अधिकारपूर्वक चैत्यवंदना करने को कहा गया है। इसमें से आप वैयावच्चगराणं० बोलकर कायोत्सर्ग तथा स्तुति नहीं करते। इसलिए १२ अधिकारपूर्वक चैत्यवंदना करते ही नहीं। तो आप इन ग्रंथो के विरोधी कहलाएंगे या नहीं? **चैत्यवंदना करने की ग्रंथ की एक बात मानना और १२ अधिकार सहित पूर्ण चैत्यवंदना करने की बात न मानना, यह**

किस घरका न्याय है ?

मुनिश्री जयानंदविजयजी अपनी पुस्तक के पृष्ठ-६७-६८-६९-७० पर पू.आ.भ.श्रीहरिभद्रसूरिजी आदि की भूलें निकालने बैठे हैं, किन्तु उन्हें अपनी दोहरी नीति दिखाई नहीं देती ? इसलिए उन्हें आवश्यकचूर्णि को याद करने का अधिकार ही नहीं है।

मुनिश्री ने ग्रंथो के नाम दिए हैं। परन्तु ग्रंथो के पाठ नहीं दिए। पाठ दें तो उनकी बात ही झूठी सिद्ध हो सकती है। इसलिए लोगों से हम शास्त्रों से हमारी बात करते हैं, यह असत्य समझाने के लिए मात्र ग्रंथो के नाम दिए हैं और जिन जगहों पर पाठ दिए हैं, वहां भी ग्रंथकार व अन्य ग्रंथो के अभिप्राय से बिल्कुल विरुद्ध अर्थघटन किया है। यह हमने पूर्व में विस्तार से अनेक स्थलों पर देखा ही है।

इसलिए पूर्वधरों के काल से आजतक अविच्छिन्नता से श्रुतदेवतादि का कायोत्सर्ग होता आया है। शास्त्रों ने उसमें साक्षी दी है। महापुरुषों ने यह मार्ग अपनाया है और आगे बढाया है। मात्र बीचमें एक बार सं.१२५०में मिथ्याग्रह से इसका विरोध करनेवाले खड़े हुए थे। परन्तु वह विरोध भी तुरंत लुप्तप्राय: हो गया था। इसके बाद सौ सवासौ वर्ष पूर्वे आ. राजेन्द्रसूरिजीने विरोध खड़ा किया था। परन्तु वह निराधार है, यह हमने देखा। आजतक हुए हजारों आचार्य, उनकी शिष्यपरंपरा द्वारा आचरित मार्ग का कोई विरोध करके आशातना न करे, यही एक नम्र सिफारिश है।

मुनिश्री जयानंदविजयजीने पृष्ठ-६७ से ७० पर की बातें मात्र वितंडावाद है। इसका जवाब अनेकवार दिया है।

प्रश्न : मोक्षमार्गकी साधना का सर्वांगीण ज्ञान किससे प्राप्त होता है ?

उत्तर : श्री ठाणांगसूत्र की टीकामें ज्ञान प्राप्ति के सात उपाय बताए गए हैं। १. सूत्र (मूलसूत्र), २. निर्युक्ति, ३. भाष्य, ४. चूर्णि, ५. वृत्ति

(टीका), ६. परम्परा तथा ७. अनुभव ।

सूत्र, निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि तथा वृत्ति इन पांच को पंचांगी कहा जाता हैं। पंचांगी मोक्षमार्गकी साधना के उपायों के ज्ञान के लिए परम कारण हैं। इसी प्रकार सुविहित परम्परा भी मोक्षमार्ग के उपायों के ज्ञान का कारण है।

इसीलिए चैत्यवंदनाकी विधि तथा उसके भेद बताते हुए चैत्यवंदन महाभाष्य में प्रारम्भ में कहा गया है कि,

तीसे करणविहाणं, नज्जइ सुत्ताणुसारओ किं पि ।
संविग्गायरणाओ, किंची उभयं पि तं भणिमो ॥१५॥

–चैत्यवंदना करने की कोई विधि सूत्रानुसार तथा कोई विधि संविग्न महापुरुषों के आचरण के अनुसार जानी जाती हैं। (इसलिए) हम यहां दोनों के अनुसार चैत्यवंदना की विधि कहते हैं। (१५)

यहां स्मरण रहे कि, ठाणांगसूत्रकी टीका भी पंचांगी में ही गिनी जाती है। इसलिए पंचांगी मानने की बात करनेवालों को पंचांगी के सूत्र आदि पांच अंगो में से टीका की बात भी माननी पड़ेगी।

ठाणांगसूत्र की टीका कहती है कि, सुविहित परम्परा भी ज्ञानप्राप्तिका मार्ग है। इसलिए सुविहित परम्परा से चली आ रही क्रियाएं भी मानना अत्यंत आवश्यक है। मात्र पंचांगी को ही मानने का आग्रह नहीं रखा जा सकता। अन्यथा वर्तमानमें हम जो क्रियाएं करते हैं, वे सभी अविहित माननी पड़ेगी। क्योंकि, पंचांगी से अनेक क्रियाओंकी विधि ज्ञात नहीं होती और फिर भी हम सब आचरण करते हैं। इस बात की स्पष्टता पू.आ.भ.श्री धर्मघोषसूरिजीने **'संघाचार भाष्य'** में की है।

इस प्रकार पंचांगी तथा सुविहित परम्परा का समन्वय करके ही कोई भी क्रिया करनी चाहिए।

यह भी याद रखें कि, कोई भी परम्परा आदरणीय नहीं बन जाती है। बल्कि अशठ, संविग्न, भवभीरु, गीतार्थ महापुरुषों द्वारा आचरित

परम्परा ही आदरणीय तथा सेवनीय होती है।

अशठ, भवभीरु, संविग्न तथा गीतार्थ महापुरुषों की सुविहित आचरणा (परम्परा) को शास्त्रीय परिभाषा में '**जीत व्यवहार**' कहा जाता है।

प्रश्न : जीत व्यवहार का लक्षण किन ग्रंथोमें हैं ? यह शास्त्रपाठों के साथ बताइए ?

उत्तर : जीतकल्प भाष्य, बृहत्कल्पभाष्य, उपदेश रहस्य, योगविंशिका की टीका, गुरुतत्त्व विनिश्चय, भगवती सूत्रकी टीका, प्रवचन परीक्षा, तत्त्वतरंगिणी आदि ग्रंथो में जीत व्यवहार के लक्षण बताए गए हैं।

जीत व्यवहार के लक्षण :-

१. अब हम जीत आचार के लक्षण तथा इन लक्षणों के महापुरुषों द्वारा किए गए स्पष्टीकरण के विषयमें शास्त्राधारों के साथ जानकारी देते हैं।

(१) वृत्त अर्थात् एक बार प्रवृत्त, अणुवृत्त अर्थात् दूसरी बार प्रवृत्त, प्रवृत्त अर्थात् तीसरी बार प्रवृत्त और महापुरुषों द्वारा अनेक बार आचरित व्यवहार, यह व्यवहार जैसे बहुवार बहुश्रुतों द्वारा आचरित हो, वैसे ही बहुश्रुतों से निषेध किया हुआ न हो, तो ही यही जीतकृत माना जाता है। यह बात श्री जीतकल्पभाष्य में निम्नलिखित गाथा के माध्यम से कही गई है।

बहुसो बहुस्सुए हिं जो वत्तो ण य णिवारितो होति।
वत्तणुपवत्तमाणं (वत्तणुवत्तपवत्तो), जीएण कतं हवति एयं ॥६७७॥

(२) अशठ अर्थात् रागद्वेषरहित, प्रमाणस्थ पुरुष द्वारा युगप्रधान आचार्य भगवान श्रीमद् कालिकसूरीश्वरजी महाराजा जैसे संविग्न गीतार्थादिगुणभाक् पुरुषने द्रव्य-क्षेत्र-कालादिके विषयमें उस प्रकारका पुष्टालंबन स्वरुप कारण होने के बावजूद, जो असावद्य अर्थात् पंच महाव्रतादि मूल गुण तथा पिंडविशुद्धि आदि उत्तरगुण, इन मूलोत्तर गुणों की आराधना को बाध करने के स्वभाव से रहित आचरण किया हो और उस आचरण को यदि तत्कालवर्ती तथाविध गीतार्थोंने निषिद्ध न किया हो, यही नहीं बल्कि बहुमत किया हो, तो उस आचरण

को आचीर्ण, आचरणा अथवा जीत स्वरुप माना, कहा और आचरण में लाया जा सकता है। श्री बृहत्कल्पसूत्र भाष्यमें यह बात जीत के लक्षण दर्शाने के साथ इस प्रकार कही गई है। देखें....

"असढेण समाइण्णं, जं कत्थइ कारणे असावज्जं ।

ण णिवारियमण्णेहिं य, बहुमणुमयमेत्तमाइण्णं ॥४४९९॥

'अशठेन' रागद्वेषरहितेन कालिकाचार्यादिवत् प्रमाणस्थेन सता 'समाचीर्णम्' आचरितं यद् भाद्रपदशुद्धचतुर्थीपर्युषणापर्ववत् 'कुत्रचित्' द्रव्यक्षेत्रकालादौ 'कारणे' पुष्टालम्बने 'असावद्यं' प्रकृत्या मूलोत्तरगुणाराधनाया अबाधकम् 'न च' नैव निवारितम् 'अन्यैः' तथाविधैरेव तत्कालवर्तिभिर्गीतार्थैः, अपि तु बहु यथा भवति एवमनुमतमेतदाचीर्णमुच्यते ॥४४९९॥"

(३) **पू.महोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी महाराजा कहते हैं कि,** आचरणा को मान्य करने की श्रीजैनशास्त्रोंकी अथवा भगवान श्री जिनेश्वरदेवोंकी आज्ञा है-यह सही है, किन्तु उसी आचरणा को मान्य करने की जिनाज्ञा है, जो आज्ञा से विरुद्ध न हो। असंविग्नाचारणा, जो असद् आलंबन से की होती है, उस आचरणा को मान्य करने की श्री जिनाज्ञा नहीं है। असंविग्न दुःषमाकालादि दोषों के आलंबन से अपने प्रमाद को मार्ग के तौर पर व्यवस्थापित करते हैं, यह उचित नहीं। क्योंकि, दुःषमाकाल में जैसे विषादि में नाशकता विद्यमान ही है, वैसे ही प्रमाद की भी अनर्थ करने की शक्ति नष्ट नहीं हुई बल्कि विद्यमान ही है। श्री जिनाज्ञा से अविरुद्ध आचरणा का लक्षण 'अशढेण' वाली गाथा में दर्शाया गया है, ऐसा माना गया है। इस प्रकार आचरणा के बारे में भी आज्ञा की सिद्धि करने के बाद, शास्त्रकार महापुरुषने यह भी कहा है कि, परपक्ष की बात तो दूर रही स्वपक्ष में भी दुःषमाकाल के दोष से ऐसे श्रमण वेषधारी लोग असंख्य देखने को मिलते हैं, जो श्रमण गुणों के व्यापार से मुक्त हैं। उद्दाम अश्व जैसे हैं और निरंकुश हाथियों जैसे हैं। इन सबको दूर से ही विष की भांति त्याग देना

चाहिए और आज्ञाशुद्ध साधु तथा श्रावकों के विषयमें सन्मान करना चाहिए।

देखिए श्री उपदेश रहस्य में-

"जयणा खलु आणाए, आयरणावि अविरुद्धगा आणा ।
णासंविग्गायरणा, जं असयालंबणकया सा ।।१४५।।

यतना खलु निश्चयेन, आज्ञया निशीथादिसूत्रादेशेन भवति, न तु स्वाभिप्रायेण लोकाचारदर्शनेनैव वा, नन्वाचरणाप्याज्ञैव पंचसु व्यवहारेषु जितस्यापि परिगणनात्, तथा च कथं नेयं यतनायां प्रमाणमित्यत्राह । आचरणारप्यविरुद्धैवाज्ञा न पुनरसंविग्नाचरणा, यद् यस्मात्, असदालंबनकृता सा, ते हि दुःषमाकालादिदोषावलंबनेन स्वकीयं प्रमादं मार्गतया व्यवस्थापयन्ति, न चैतद् युक्तम्, विषादेरिव दुःषमायां प्रमादस्याप्यनर्थकरणशक्त्यविघातात्, तदुक्तम् "मारेंति दुस्समाए, विसादओ जह तहेव साहूणं । निक्कारणपडिसेवा, सव्वत्थ विना सई चरणं ।।" अविरुद्धाचरणायाश्चेत्थं लक्षणमामनंति । "असढेण समाइन्नं, जं कत्थइ केणइ असावज्जं । न निवारियमन्नेहिं, जं बहुमयम-अमायरिअं ।।" अशठेनामायाविना सता समाचीर्णमाचरितम्, यद्भाद्रपदशुक्लचतुर्थीपर्युषणापर्ववत्, कुत्रचित्काले क्षेत्रे वा केनचित्संविग्नगीतार्थत्वादिगुणभाजा कालिकाचार्यादिनाऽसावद्यं मूलोत्तरगुणाराधनाविरोधि तथा न नैव निवारितमन्यैश्च तथाविधैरेव गीतार्थैः अपि तु बहु यथा भवत्येवं मतं बहुमतमेतदाचरितम् ।।१४५।।

दीसंति बहू मुंडा दूसमदोसवसओ सपक्खेवि ।
ते दूरे मोत्तव्वा आणासुद्धेसु पडिबंधा ।।१४६।।

एवंविधाज्ञासिद्धिः सांप्रतं यथा भवति तथा हि दृश्यंते, स्वपक्षेऽपि किं पुनः परपक्ष इत्यपि शब्दार्थः, बहवो मुंडा श्रमणगुणमुक्तयोगिनो हया इवोद्दामा गजा इव निरंकुशाः शिरोमुंडा, दुःषमादोषवशतः पंचमारकवैगुण्यबलात्, तदुक्तम्, "कलहकरा डमरकरा असमाहिकरा अणिव्वुइकरा य । होहंति भरहवासे बहुमुंडा अप्पसमणा य ।।" ते दूरेण मोक्तव्या विषवत्

परिहर्त्तव्याः, तथा आज्ञाशुद्धेषु सम्यगधीतजिनागमा- चारवशात् शुद्धिमागतेषु साधुषु श्रावकेषु वा, प्रतिबंधो बहुमानः कार्यः ॥१४६॥"

(४) पू.सुविहित शिरोमणि आचार्य भगवंत श्रीमद् हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराजा द्वारा रचित श्रीयोगविंशिका नामक ग्रंथ की पू.महोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी महाराजने व्याख्या लिखी है। **इस व्याख्या में वे कहते हैं कि, शास्त्र की नीति से जो चलनेवाला हो, वह एक महाजन है। अज्ञान सार्थो से फायदा क्या ? क्योंकि, जो अंधा सा होता है वह देखकर भी देख नहीं सकता। संविग्नजनोंने जिसका आचरण किया हो, श्रुतवाक्यों से जो अबाध्य हो और जो पारम्पर्य विशुद्धिपन हो, वह आचरण जीत व्यवहार कहलाता है। श्रुत एवं उसके अर्थ का आलम्बन नहीं करनेवाले असंविग्नोने जो आचरण किया हो, वह जीत व्यवहार नहीं बल्कि अंध परम्परा है।** आकल्प व्यवहार के लिए श्रुत व्यवहारिक नहीं, ऐसा कहनेवाले के लिए शास्त्रमें बड़ा प्रायश्चित दर्शाया है। इसलिए एक मात्र ज्ञानियों द्वारा बताई गई विधि के रसिक जनोंको, श्रुतानुसार करके संविग्नजीत आलंबन करने योग्य है, यह भगवान श्रीजिनेश्वरदेवों की आज्ञा है। देखो-

"एकोऽपि शास्त्रनीत्या यो, वर्तते स महाजनः ।
किमज्ञसार्थैः शतम-प्यन्धानां नैव पश्यति ॥४॥
यत्संविग्नजनाचीर्णं, श्रुतवाक्यैरबाधितम् ।
तज्जीतं व्यवहाराख्यं, पारम्पर्यविशुद्धिमत् ॥५॥
यदाचीर्णमसंविग्नैः, श्रुतार्थानवलम्बिभिः ।
न जीतं व्यवहारस्त-दन्धसंततिसम्भवम् ॥६॥
आकल्पव्यवहारार्थं, श्रुतं न व्यवहारकम् ।
इति वक्तुर्महत्तन्त्रे, प्रायश्चित्तं प्रदर्शितम् ॥७॥
तस्मांच्छुतानुसारेण, विध्येकरसिकैर्जनैः ।
संविग्नजीतमवलम्ब्य-मित्यज्ञा पारमेश्वरी ॥८॥"

(५) पू.महोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी महाराजा श्री गुरुतत्त्व विनिश्चय नामक ग्रंथमें कहते हैं कि, जीत व्यवहार तीर्थ पर्यन्त होता ही है : क्योंकि, द्रव्यादि के विमर्श-विचारपूर्वक अविरुद्ध उत्सर्गापवाद-यतना ही प्राय: जीतरुप है। मात्र आगमादि के कालमें सूर्यप्रकाश में जैसे ग्रहप्रकाश का अंतर्भाव होता है, वैसे ही जीतव्यवहार का आगमादि व्यवहार में अंतर्भाव होता है, यहां प्रश्न उठाते हैं कि-'तो फिर श्रुतकालीन जीत भी तत्त्वत: श्रुत ही है, यह कहने में दोष क्या है ?' इस प्रश्न के उत्तर में ग्रंथकार परमर्षि कहते हैं कि-'**जब जीत की प्रधानता हो तब उसका उपयोग करना है, इस कारण जिस अंशमें जीतमें श्रुत की अप्राप्ति हो, उस में जीत की ही प्रधानता है।**'

"**किञ्च जीतव्यवहारस्तावदातीर्थमस्त्येव, द्रव्यादिविमर्शा-विरुद्धोत्सर्गापवादयतनाया एव प्रायो जीतरुपत्वात्, केवलमागमादि-काले सूर्यप्रकाशे ग्रहप्रकाशवत्तत्रैवान्तर्भवति न तु प्राधान्यमश्नुते। तथा च श्रुतकालीनं जीतमपि तत्त्वत: श्रुतमेवेति को दोष: ? कदा तर्हि तस्योपयोग: ? इति चेत्, यदा तस्य प्राधान्यम्, अत एव यदंशे जीते श्रुतानुपलम्भस्तदंशे इदानीं तस्यैव प्रामाण्यमिति ॥**"

(६) इसी ग्रंथ में, आगे चलकर-'यदि जीतका आदर किया जाएगा तो दुनियामें कौन सी आचरणा ऐसी है कि जो प्रमाण नहीं बनेगी ? क्योंकि, सभी स्वपरम्परागत जीत का आश्रय करनेवाले हैं।' ऐसी शंका का निराकरण करते हुए, ग्रंथकार परमर्षिने फरमाया है कि, जो जीत सावद्य है, उससे व्यवहार नहीं होता : जो जीत असावद्य है, उससे ही व्यवहार होता है।

ग्रंथकार परमर्षिने आगे यह बात भी पेश की है कि, पासत्था एवं प्रमत्त संयतोने आचीर्ण एवं उससे ही अशुद्धिकर जीत यद्यपि महाजनाचीर्ण हो तो भी उस जीत से व्यवहार नहीं करना चाहिए। जो जीत एक भी संवेगपरायण दान्त पुरुषने आचारणमें लिया हो, वह जीत शुद्धिकर है इसलिए उससे व्यवहार करना चाहिए। यह पाठ इस प्रकार है-

"यदि जीतमाद्रियते तदा किं न प्रमाणीस्यात् ? सर्वैरपि स्वपरम्परागतजीताश्रयणादित्यत आह-

जं जीअं सावज्जं, ण तेण जीएण होइ व्यवहारो

जं जीअमसावज्जं, तेण उ जीएण ववहारो ॥४७॥"

तथा-

"जं जीअमसोहिकरं, पासत्थपमत्तसंजयाईणं ।

जइ वि महाणा इन्नं, ण तेण जीएण ववहारो ॥५२॥

जं जीअं सोहिकरं, संवेगपरायणेण दंतेणं ।

इक्केण वि आइन्नं, तेण उ जीएण ववहारो ॥५३॥"

(७) प्रवचन परीक्षा नामक ग्रंथ में महोपाध्याय श्रीधर्मसागरजी महाराज कहते हैं कि,

(i) **जो आचार्य श्रीजिनमत को यथावस्थित स्वरुप में प्रकाशमान करते हैं वे ही आचार्य जिन सदृश हैं। इसलिए विपरीत प्रकार के आचार्य तो, पाप के पुंज जैसे होने से, सम्यग्दृष्टि जनो के लिए दूर से ही त्यागने योग्य हैं।** सूरि आचार्य द्वारा प्रवर्तित यही प्रमाण है, कि जो मायारहित सम्यक् पर्यालोचना करके विहित किया हो, वह भी प्रवचनका-शास्त्रका उपघात करनेवाला नहीं होना चाहिए और तत्कालवर्ती बहुश्रुतों से प्रतिषेधित नहीं होना चाहिए। इतना ही नहीं, किन्तु तत्कालवर्ती सभी गीतार्थोंको पर्युषणा की चतुर्थी की भांति सम्मत होना चाहिए।

(ii) जो कुछ आचार्य प्रवर्तित हो वह प्रमाण माना जाए, यह स्वीकारने से सभी प्रवचन के उच्छेद की आपत्ति आ लगेगी।

(iii) **श्रुतव्यवहार में श्रुतव्यवहार को लांघकर बरतनेवाला दर्शन के लिए भी योग्य नहीं। जो पुरुष जिस व्यवहारवाला हो, उस व्यवहार को पुरस्कृत करके चलनेवाला ही श्री जिनाज्ञा का आराधक होता है, किन्तु अन्य प्रकार (से श्री जिनाज्ञा का आराधक नहीं होता।)**

(iv) तत्कालवर्ती बहुश्रुतों द्वारा सम्मत एवं अन्य द्वारा आचरित प्राय: वही होता है, जो आगम व्यवहारी तथा युगप्रधानादि द्वारा प्रवर्तित हो : जैसे कि, पर्युषणा चतुर्थी। अन्यथा, 'जिसे जो परम्परागत, उसे वहीं प्रमाण' इन सब वचनों का असंभव मानना पड़ेगा। अर्थात् 'जिसे जो परम्परागत, उसे वही प्रमाण' इत्यादि वचनों से, किसीको भी अयोग्य परम्परा मानने में जो आपत्ति बताई गई है, वह नहीं बताई जा सकेगी : क्योंकि, परम्परा भी कहीं किसी भी पुरुष द्वारा शुरु की गई स्वीकृत की जाती है? परम्परागत भी जो सातिशायी पुरुषमूलक न हो, उसे परम्परागत कहना संभव ही नहीं।

(v) **श्री भगवतीजी सूत्रमें प्रावचनिक पुरुषों से सभी प्रवृत्तियां प्रमाण हैं, ऐसा नहीं कहा है : क्योंकि, श्रुतव्यवहारी ने जो प्रवर्तित हो उसमें वही प्रमाण होता है, जो आगम का अनुसरण करनेवाला हो, अन्यथा प्रवचन व्यवस्था का विप्लव उत्पन्न होता है।**

(i) तस्मात् स एवाचार्यो जिनसदृशः यो जिनमतं सम्यक् यथावस्थितं प्रकाशयति, इतरथा स पापपुञ्जः - केवलपापात्मा परित्याज्यः - दूरं दूरेण परिहरणीयः, कैः १ पुण्यसंज्ञैः पुण्या-मिथ्यात्वादिकालुष्याप्रतिहता संज्ञा येषां ते तथा, यद्वा पूर्णसंज्ञाः सम्यग्दृष्टय इत्यर्थस्तैः पुरुषैर्जिनवचनवितथप्ररुपको दर्शनमात्रतोऽपि त्याज्य इति।

सूरिकृतमपि-आचार्यप्रवर्तितमपि चिअत्ति एवकारार्थे तदेव प्रमाणं-सत्यतयाऽभ्युपगन्तव्यं यदशठभावेन-निर्म्मायितया ऋजुभावेने -त्यर्थः संजनितं-सम्यक् पर्यालोचनया विहितं, तदपि निरवद्यं-निष्पापं प्रवचनानुपघाति तथाऽन्यैरनिवारितं-'मा इत्थं कुरु' इत्येवंरुपेण नान्यैर्बहुश्रुतै- स्तत्कालवर्तिभिः प्रतिषिद्धम्, एवंविधमपि बहुश्रुतानामनुमतं तत्कालवर्तिसर्वगीतार्थसम्मतं तथा पर्युषणाचतुर्थी।

(ii) यत्किंचिदाचार्यप्रवर्तितस्य प्रामाण्यमभ्युपगमे प्रवचन-

मात्रस्याप्युच्छेदापत्तेः।

(iii) श्रुतव्यवहारे च श्रुतव्यवहारमुल्लङ्घ्य प्रवर्तमानो द्रष्टुमप्यकल्प्यः, यो यो यद्यदव्यवहारवान्, स स तं तं व्यवहारं पुरस्कृत्य प्रवर्त्तमानो जिनाज्ञाराधको, नान्यथा।

(iv) बहुसम्मतमन्याचरितं च प्रायस्तदेव भवति यदागमव्यवहारि -युगप्रधानादिमूलकं स्याद्, यथा पर्युषणाचतुर्थी, अन्यथा "जस्स जं परंपरागयं तस्स तं पमाणं" इत्यादिवचनानुपपत्तेः, यतः परम्पराऽपि किं यत्किंचित्पुरुषादारभ्याभ्युपगम्यते ?, नहि सातिशयपुरुषमूलकमन्तेरेण परम्परागतमिति भणितुं शक्यते।

(V) प्रवचनमधीते.... प्रमाणत्वादिति व्याख्यानं श्रीभगवतीवृत्तौ, तत्र सर्वापि प्रवृत्तिः प्रमाणतया न भणिता, यतः श्रुतव्यवहारिणा प्रवर्तितं तदेव प्रमाणं स्याद्यदागमानुपातिः, अन्यथा प्रवचनव्यवस्थाविप्लवः प्रसज्येत।

(८) तत्वतरंगिणी नामक ग्रंथमें भी महोपाध्याय श्रीधर्मसागरजी महाराज कहते हैं कि,

(अ) आचार्य परम्परा से आई सामाचारी, अपने दोष के कारण सिद्धांत-शास्त्र के तनिक भी दोष को दिखानेवाली न हो, वही सामाचारी प्रमाण है।

(आ) अशठ पुरुष द्वारा आचरित आदि लक्षणों से रहित *सामाचारी, प्रशस्त नामवाली हो तो भी, अंगीकार करने योग्य नहीं :* इतना ही नहीं, किन्तु विषमिश्रित दूध का जैसे त्याग किया जाता है, वैसे ही आगम विरोधी सामाचारीका मन-वचन-काया से करने-कराने-अनुमोदना से भी त्याग करना चाहिए। अर्थात् मन, वचन व काया से आगमविरोधी सामाचारी का स्वयं भी त्याग करें। अन्य से भी आगमविरोधी सामाचारी का आचरण न करावें और जो ऐसी आगमविरोधी सामाचारी का आचरण करते हों, उनकी अनुमोदना भी न करें ।

(अ) तल्लक्खणं तु आयरियपारंपरएण आगया संती।

सिद्धन्तदोषलेसं दंसेइ न अत्तदोसेणं ॥४६॥

तस्याः सामाचार्या लक्षणं तल्लक्षणं, तु पुनः किं ? या आचार्यपरंपरया आगता सती आत्मदोषेण सिद्धान्तदोषलेशं न दर्शयति, अयं भावः - आचार्यपरंपरागतत्वे स्वात्मदोषेण सिद्धान्तदोषादर्शकत्वं सामाचार्याः प्रामाण्यमिति, आत्मदोषेणेति पदं सिद्धान्तशुद्धत्व-ज्ञापनार्थम्, आधुनिककालवर्तिस्वल्प -सिद्धान्तानुसारेण स्वमति-कल्पितायाः प्रामाण्यपराकरणार्थं परंपरागतत्वे सतीति सप्तम्यन्त-विशेषणं, निह्नवपरंपरायातनिह्नवसामाचारीनिवृत्तये सिद्धान्तदोषादर्श-कत्वमिति, निह्नवसामाचारी हि सिद्धान्तदोषं दर्शयत्येव, आस्तां स्थूलतरदोषदूषितत्वं, स्वल्पेनाप्यागमविरोधेन दूषिता प्रमाणं न भवतीति ज्ञापनार्थं लेशपदमिति, अत एव नास्माकं सामाचार्या आगमेन सह महान् विरोधः, किन्तु द्वित्रादिविचारैः, स च न दोषोऽल्पत्वादित्याशयस्य प्रशस्तं निरस्तं, प्राणदेशं प्राप्य मृत्युदायकस्य स्वल्पस्यापि हलाहलस्य कंठविवरदेशं प्राप्य मृत्युदायकत्वनियमादिति को भावः आगमनैष्ठिकवचनस्याप्यपलापिनो वचनमात्रश्रवणे समीपावस्थाने चानन्तानि जन्ममरणानि लभते, किं न पुनस्तदाचरितसामाचारी-करणेनेति रहस्यम्।

(आ) इहरा पसत्थनामावि पंडिआणं पमाणमिह न जओ ।

विसमिस्सपायसं वा तिविहं तिविहेण वज्जिज्जा ॥४७॥

इतरथा एतल्लक्षणरहिता सामाचारी प्रशस्तनाम्न्यपि, नाङ्गीकार्येत्य-ध्याहार्यं, कुतो ?, यतः पंडितानामिह प्रवचने सा प्रमाणं न भवति, तर्हि किं कर्त्तव्यमित्युत्तरार्द्धमाहआगमविरुद्धसामाचारीमिति गम्यं, विषमि-श्रपायसमिव त्रिविधं त्रिविधेन-मनोवाक्कायकरणकारणानुमति-भिर्वर्जयेदिति।

२. उपरोक्त शास्त्रपाठ देखने से आप समझ सकेंगे कि, वृत्तानुवृत्तप्रवृत्त के शब्दार्थ मात्र को ग्रहण करके कैसी भी 'आचरणा'को श्री जिनशासन ने जिस

आचरणा को श्रीजिनशासन के अनुसार मानने योग्य बताई है, वैसी आचरणा के रुप में मान लिया जाए, तो भारी अनर्थ निष्पन्न हुए बिना न रहे। **जो आचारणा, आचरणा के लक्षणों से युक्त हो, तथा आचरणा के एक भी लक्षण की अवमानना करनेवाली न हो, वह आचरणा श्रीजिनाज्ञा की भांति ही मान्य करने लायक है और ऐसा करने में भी वस्तुतः श्रीजिनाज्ञा की ही आराधना है। क्योंकि, आचरणा को मानना चाहिए, यह भी भगवान श्रीजिनेश्वरदेवों ने कहा है, इसलिए मान्य की जाती है और इस प्रकार विचार करके समझा जा सकता है कि, जिस आचरणामें भगवान श्रीजिनेश्वरदेवों की आज्ञा की अवमानना हो, ऐसी आचरणा को मानने की कल्पना भी भवभीरु शासनानुसारियों से नहीं हो सकती।** इस उद्देश्य से भी परम उपकारी महापुरुषोंने आचरणा के विषयमें कई स्पष्टताएं की गई है।

३. उपरोक्त शास्त्रपाठों में साफ-साफ शब्दोंमें यह कहा गया है कि-

(१) जो आचरणा संविग्न गीतार्थादिगुणभाक् प्रमाणस्थ पुरुषने प्रवर्तमान कीन हो, ऐसी कितनी भी पुरानी आचरणाको वास्तविक स्वरुप की आचरणा नहीं कहा जा सकता।

(२) संविग्नगीतार्थादिगुणभाक् प्रमाणस्थ पुरुष द्वारा प्रवर्तित आचरणा भी यदि राग-द्वेष अथवा माया से रहित न हो, तो उस आचरणा को भी वास्तविक स्वरुप आचरणा नहीं कहा जा सकता।

(३) संविग्नगीतार्थादिगुणभाक् प्रमाणस्थ पुरुष द्वारा अशठता से प्रवर्तित आचरणा भी यदि निरवद्य न हो अर्थात् सर्वथा हिंसा विरमण आदि महाव्रतरुपी मूल गुण तथा पिंडविशुद्धि आदि उत्तरगुणों का विघात करनेवाली हो, अथवा शास्त्रवचनों का विघात करनेवाली हो, तो भी उसे वास्तविक स्वरुपवाली आचरणा नहीं कहा जा सकता।

(४) संविग्नगीतार्थादिगुणभाक् प्रमाणस्थ पुरुष द्वारा अशठता से प्रवर्तित एवं निरवद्य आचरणा भी यदि तत्कालीन तथाविध गीतार्थो से निषिद्ध की गई

हो, तो भी उसे वास्तविक स्वरुप की आचरणा नहीं कहा जा सकता।

(५) संविग्नगीतार्थादिगुणभाक् प्रमाणस्थ पुरुष द्वारा अशठता से प्रवर्तित की हो, निरवद्य हो तथा तत्कालीन तथाविध गीतार्थो से निषिद्ध न की गई हो, ऐसी आचरणा भी यदि तत्कालीन तथाविध बहुश्रुतों द्वारा बहुमत न की गई हो, तो भी उसे वास्तविक स्वरुप की आचरणा नहीं कहा जा सकता।

(६) जिस परम्परा का मूल सातिशायी पुरुष न हो, उसे वस्तुतः परम्परागत नहीं कहा जा सकता।

(७) श्रुतव्यवहारी कोई भी आचरण श्रुत का उल्लंघन करके कर ही नहीं सकता।

(८) जिसके लिए श्रुत की प्राप्ति हो, उसके लिए जीत की प्रधानता हो ही नहीं सकती।

(९) जो आचरणा आगम से विरुद्ध हो, इसलिए सावद्य और अशुद्धिकर हो, उस आचरणा का स्वीकार हो ही नहीं सकता, किन्तु ऐसी आचरणा का (मन-वचन-काया से करने-कराने एवं अनुमोदना करने पूर्वक) त्रिविध त्याग करना ही चाहिए।

उपरोक्त मुद्दों को ध्यान में लेने पर स्पष्टरुप से समझा जा सकता है कि, 'चतुर्थ स्तुति' का मत शास्त्र एवं शास्त्र मान्य सुविहित परम्परासे विशुद्ध है और 'त्रिस्तुतिक' मत शास्त्र तथा शास्त्र मान्य सुविहित परम्परा से विरुद्ध है और इसलिए उन्मार्ग स्वरुप है।

इस बात पर विस्तार से विचार करें।

(१) देव-देवी के कायोत्सर्ग करने तथा उनकी स्तुति कहने की आचरणा संविग्न गीतार्थादिगुणवान् प्रमाणस्थ पुरुष द्वारा प्रवर्तित है। **जबकि त्रिस्तुतिक मत १२५०में मिथ्याग्रहसे प्रवर्तित हुआ है।**

(२) चतुर्थस्तुतिकी आचरणा संविग्न गीतार्थादिगुणवाले श्रीहरिभद्र-सूरिजी, श्रीअभयदेवसूरिजी, श्रीधर्मघोषसूरिजी, श्रीकुलमंडनसूरिजी,

कलिकाल सर्वज्ञ श्रीहेमचंद्रसूरिजी, महोपाध्याय श्रीमानविजयजी, महोपाध्याय श्रीयशोविजयजी आदि अनेक प्रामाणिक महापुरुषोंने अशठभाव से आराधी है। अपने ग्रंथोमें उसकी विहितता एवं उपयोगिता भी बताई है। **जबकि त्रिस्तुतिक मत के लिए इस प्रकार की स्थिति नहीं है।**

(३) चतुर्थस्तुतिकी आचरणा सुविहित महापुरुषों द्वारा आचरित है। साथ ही मूलगुण-उत्तरगुणों की विघात करनेवाली नहीं है और शास्त्रवचनों से विरुद्ध नहीं है। पंचांगी का एक भी वचन चतुर्थ स्तुतिका विरोध नहीं करता। प्रत्युत चतुर्थ स्तुति का समर्थन करता है।

जबकि त्रिस्तुतिक मत को किसी भी शास्त्रका समर्थन नहीं। महापुरुषोंकी आचरणा से विरुद्ध है। इसलिए मूल-उत्तरगुणों का घातक है। इसलिए यह मान्यता निरवद्य नहीं है।

(४) संविग्नगीतार्थादिगुणवान् प्रामाणिक महापुरुषों द्वारा अशठभाव से प्रवर्तमान निरवद्य चतुर्थ स्तुति की मान्यता का तत्कालीन तथाविध गीतार्थों ने निषेध नहीं किया है। अर्थात् चतुर्थ स्तुति की आचरणा का किसी संविग्नादि गुणवान् गीतार्थों ने निषेध नहीं किया है।

जबकि त्रिस्तुतिक मतका संविग्नादि गुणवान् गीतार्थोंने विरोध किया है।

(५) चतुर्थ स्तुति की आचरणा का जैसे तथाविध गीतार्थोंने निषेध नहीं किया, बल्कि समर्थन किया है, वैसे ही बहुश्रुतों ने भी चतुर्थ स्तुतिके मत का समर्थन किया है, विरोध नहीं किया।

जबकि त्रिस्तुतिक मत का अनेक गीतार्थों एवं बहुश्रुतों ने जगह-जगह विरोध किया है।

(६) देव-देवी के कायोत्सर्ग एवं उनकी स्तुति की आचरणा का मूल सातिशायी पुरुष हैं।

जबकि तीन थोय की आचरणा का मूल सातिशायी पुरुष नहीं है।

बल्कि वह मिथ्याग्रह से प्रवर्तित हुआ है।

(७) चतुर्थ स्तुति की आचरणा श्रुत का उल्लंघन करके प्रवर्तित नहीं हुई है। क्योंकि, श्रुत में देव-देवी के कायोत्सर्ग के विधान हैं।

जबकि त्रिस्तुतिक मतकी आचरणा श्रुत का उल्लंघन करके स्वतंत्र मति कल्पना से प्रवर्तमान हुई है।

इस प्रकार उपरोक्त विचार से फलित होता है कि, चतुर्थ स्तुतिकी आचरणा शास्त्र मान्य सुविहित परम्परा है और त्रिस्तुतिक मतकी आचरणा शास्त्रमान्य सुविहित परम्परा से विरुद्ध है।

उपरोक्तानुसार संविग्नगीतार्थादि गुणवान् महापुरुषों द्वारा अशठभावसे प्रवर्तित आचरणा भी आदरणीय है-सेवनीय है। इस प्रकार की गीतार्थों की आचरणाका जो लोप-नाश करते हैं, विरोध करते हैं, उनका स्वयं नाश होता है, यह सुयडांगसूत्र की निर्युक्ति में पू.भद्रबाहुस्वामीजीने कहा है। यह पाठ इस प्रकार है।

आयरिए परंपराए, आगयं जो च्छेय बुद्धिए।
कोइ वोच्छेय वाइ, जमालिनाशं स नासेइ ॥१॥

-आचार्यों की परम्परा से जो आचरणा चली आ रही है, उसका उच्छेद करे अर्थात् न मानने की जो बुद्धि करे, तो जमालिकी तरह नष्ट हो जाता है।

भगवान की आज्ञा की (शास्त्रकथित वचनोंकी) तरह ही सुविहित परम्परा भी मार्ग है। इस मार्गका उल्लंघन करनेवाले भवाटवी को पार नहीं कर सकता। श्री अरिहंत परमात्मारुपी सूर्य तथा सामान्य केवलज्ञानीरुपी चंद्रके विरहमें शास्त्र तथा शास्त्रमान्य सुविहित परम्परा हमारे लिए (वर्तमानमें) परम आधाररुप है।

शास्त्र व शास्त्रमान्य सुविहित परम्परा चतुर्थ स्तुति को मान्य करती है, फिर भी त्रिस्तुतिक मतवाले कुतर्क करके इस मान्यता का खंडन करते हैं, यह कतई उचित नहीं।

प्रश्न : क्या अभिधान राजेन्द्रकोष में प्रतिक्रमण की विधि बताई है?

इसमें प्रारम्भ की चैत्यवंदना चार थोय से करने को कहा गया है या नहीं ?

उत्तर : हां, प्रतिक्रमण के प्रारम्भ की चैत्यवंदना चार थोय से ही करने को कहा गया है । **अभिधान राजेन्द्रकोष भाग-५, '५' कार विभाग, 'पडिक्कमण' की चर्चा करते हुए पृष्ठ-२६७ पर प्रतिक्रमण की विधि बताई गई है। जो इस प्रकार है** - (यहां प्रस्तुत चर्चा में उपयोगी पाठ ही ग्रहण किए हैं।)

(६) प्रतिक्रमणविधिश्चैवं प्रतिक्रमणहेतुगर्भाऽऽदौ उक्तः -

तत्र चाऽऽवश्यकऽऽरम्भे चैत्यवन्दनाधिकारोक्ताऽऽगम-वचनप्रामाण्यात्-....... ।

इत्यादियुक्तेश्च पूर्वमीर्यापथिकीं प्रतिक्रामती । प्रतिक्रामता च तां मानसोपयोगं दत्त्वा त्रीन् वारान् पदन्यासभूमिः प्रमार्जनीया, एवं च तां प्रतिक्रम्य साधुः कृतसामायिकश्च श्रावकः आदौ श्रीदेवगुरुवन्दनं विधत्ते, सर्वमप्यनुष्ठानं श्रीदेवगुरुवन्दनविनयबहुमानाऽऽदि भक्तिपूर्वकं सफलं भवति। आह च

"विणयाहीआ विज्झा दिंति फलं इहे परे अ लोगम्मि ।
न फलंति विणयहीणा, सस्साणि व तोयहीणाणि ॥१॥
भत्तीइ जिणवराणं, छिज्जंती पुव्वसंचिआ कम्मा ।
आयरिअनमुक्कारेण, विज्जा मंता य सिज्झंति ॥२॥

इति हेतोः

"पढमऽहिगारे वंदे, भावजिणे १ बीअए उ द्रव्यजिणे २ ।
इगचेइअठवणजिणे, तइअचउत्थम्मि नामजिणे ३-४ ॥१॥
तिहुअणठवणजिणे पुण, पंचमए ५ विहरमाणजिण छट्ठे ६ ।
सत्तमए सुअनाणं ७, अट्ठमए सव्वसिद्धथुई ८ ॥२॥
तित्थाहिववीरथुई, नवमे ९ दसमे अ उज्जयंतथुई १० ।
अट्ठावयाइ इगदिसि ११, सुदिट्ठिसुरसमरणा चरमे १२ ॥३॥
नमु १ जे अइय २ अरिहं ३ लोग ४
सव्व ५ पुक्ख ६ तम ७ सिद्ध ८ जो देवा ९ ।

उंज्जि १० चत्ता ११ वैयावच्च १२ अहिगारपढमपया ॥४॥"

इति चैत्यवन्दनभाष्यगाथोक्तैर्द्वादशभिरधिकारैः पूर्वोक्तविधिना देवान् वन्दित्वा चतुरादिक्षमाश्रमणैः श्रीगुरुन् वन्दते।

भावार्थ : प्रतिक्रमण की विधि '**प्रतिक्रमण हेतु गर्भ**' आदि ग्रंथोंमें इस प्रकार कही गई है.......

यहां आवश्यक के प्रारम्भ में चैत्यवंदना का अभिकार कहा गया है।

इस प्रकार आगम वचन के प्रमाण से तथा युक्ति से पहले 'इर्यावही' पडिक्कमवी। 'इर्यावही'को पडिक्कमते समय मन के उपयोगपूर्वक जहां खड़ा रहना है, उस भूमि को तीन बार प्रमार्जित करना चाहिए।

इस प्रकार 'इर्यावही' पडिक्कम के साधु एवं सामायिक करनेवाले श्रावक प्रारम्भ में श्रीदेव-गुरु को वंदन करते हैं। सभी अनुष्ठान श्रीदेव-गुरुके वंदन-विनय-सन्मानादि भक्तिपूर्वक ही सफल होता है **और इसीलिए कहा गया है कि,**

'विनय युक्त विद्या आलोक तथा परलोकमें (अच्छा) फल देती है। जैसे पानी के बिना अन्न नही उपजता है, वैसे ही विनयहीन को विद्या नहीं फलती।

श्रीजिनेश्वरों की भक्ति से पूर्वसंचित कर्म नष्ट होते हैं। पू.आचार्य भगवंत को नमस्कार करने से विद्या एवं मंत्र सिद्ध होते हैं।॥१-२॥'

(प्रतिक्रमण के प्रारम्भमें बारह अधिकार सहित चैत्यवंदना करनी है। इसमें प्रत्येक अधिकार के) उद्देश्य बताए गए हैं।

'**नमुत्थुणं**'में प्रथम अधिकार **भावजिनका** है। (१) '**जे अ अइया**' सूत्रमें **द्रव्य जिन** को नमस्कार होता है। (यह दूसरा अधिकार है।) (२) तीसरा अधिकार '**अरिहंत चेइयाणं**' सूत्र द्वारा **एक चैत्य में निहित स्थापना जिनको** नमस्कार होता है (३) चौथे अधिकार '**लोगस्स**' सूत्रमें नाम जिनकी वंदना होती है। (४)

पांचवें अधिकार '**सव्वलोअे सूत्र**'में **तीन लोकमें निहित स्थापना**

जिनको वंदन किया गया है। (५) छठवें अधिकार '**पुक्खरवरदी वड्ढे**' सूत्रमें (पहली गाथासे) विहरमान जिन की वंदना की गई है। (६) सातवें अधिकार, '**तमतिमिर०**' सूत्रमें **श्रुतज्ञान की वंदना** की गई है। (७) आठवें अधिकार '**सिद्धाणं बुद्धाणं**' सूत्रमें सभी **सिद्धों की स्तुति** की गई है। (८)

नौवें अधिकारमें '**जो देवाण वि देवो**' सूत्र से तीर्थाधिपति **श्रीमहावीर स्वामीकी वंदना** होती है। (९) दसवें अधिकारमें '**उज्जित सेल।**' सूत्रसे **गिरनार तीर्थ की** वंदना होती है। (१०) ग्यारहवें अधिकारमें '**चत्तारिअट्ठ**' सूत्र से **अष्टापद तीर्थ की** वंदना की जाती है। (११) **बारहवें एवं अंतिम अधिकार में 'वैयावच्चगराणं' सूत्र से सम्यग्दृष्टि देवता का स्मरण किया गया है।**॥१-२-३॥

(अब १२ अधिकार के शुरुआत के पद बताए गए हैं।) नमुत्थुणं १, जे अ अइया सिद्धा २, अरिहंत चेइयाणं ३, लोगस्स उज्जोअगरे ४, सव्वलोए ५, पुक्खरवरदी ६, तमतिमिरपडल ७, सिद्धाणं बुद्धाणं ८, जो देवाण वि देवो ९, उज्जित सेल सिहरे १०, चत्तारि अट्ठ ११, वैयावच्चगराणं, ये १२ अधिकार के प्रथम पद हैं।॥५॥

इस प्रकार चैत्यवंदन भाष्य की गाथाओं में कहे गए अधिकारों के माध्यम से पूर्वोक्त विधि से देवों को वंदन करके चार खमासमणा से गुरु भगवंतो की वंदना की जाती है।

....

नोट :

- **अभिधान राजेन्द्रकोषमें** प्रतिक्रमण की विधि बताते हुए प्रारम्भमें चार थोय से चैत्यवंदना करने की विधि स्पष्टरुप से देखने को मिलती है।
- **आगमवचन तथा युक्ति से प्रथम 'इर्यावही' पडिक्कमण करना चाहिए, यह भी विधि बताई गई है।**

....

प्रश्न : क्या **अभिधान राजेन्द्रकोषमें प्रतिक्रमण की विधिमें प्रतिदिन श्रुतदेवता-क्षेत्रदेवता का कायोत्सर्ग करने को कहा गया है और उनकी स्तुति बोलने को कहा गया है ? और प्रतिदिन श्रुतदेवता-क्षेत्रदेवता का कायोत्सर्ग करने का उद्देश्य बताया गया है ?**

उत्तर : हां, **अभिधान राजेन्द्रकोषमें** प्रतिदिन श्रुतदेवता-क्षेत्रदेवता का कायोत्सर्ग व उनकी थोय कहने को कहा गया है। कायोत्सर्ग का उद्देश्य भी बताया गया है, जो निम्नानुसार है।

अभिधान राजेन्द्रकोष, भाग-५, '५'कार विभाग, '**पडिक्कमण**' विभागमें पृष्ठ-२६९ पर प्रतिक्रमण की विधि बताते हुए आगे कहा गया है कि,

"एवं चारित्राद्याचारणां शुद्धिं विधाय सकलधर्मानुष्ठानस्य श्रुतहेतुकत्वात्तस्य समृद्ध्यर्थम् - "सुअदेवयाए करेमि काउस्सग्गं अन्नत्थं" इत्यादि च पठित्वा श्रुताधिष्ठातृदेवतायाः स्मर्तुः कर्मक्षयहेतुत्वेन श्रुतदेवतायाः कायोत्सर्गं कुर्यात्, तत्र च नमस्कारं चिन्तयति । देवताद्याराधनस्य स्वल्पयत्नसाध्यत्वेनाष्टोच्छ्वासमान एवायं कायोत्सर्ग इत्यादि हेतुः संभाव्यः । पारयित्वा च तस्याः स्तुतिं पठति सुअदेवया भगवई इत्यादि, अन्येन दीयमानां वा श्रृणोति ।

एवं क्षेत्रदेवताया अपि स्मृतिर्युक्तेति तस्याः कायोत्सर्गानन्तरं तस्या एव स्तुतिं भणति । यच्च प्रत्यहं क्षेत्रदेवतायाः स्मरणं च, तत्तृतीये व्रतेऽभीक्ष्णावग्रहयाचनारुपभावनायाः सत्यापनार्थं संभाव्यते ॥"

भावार्थ : इस प्रकार (चारित्रादि आचारोंकी शुद्धि के लिए कायोत्सर्ग करके चारित्रादि की शुद्धि करके सभी धर्मानुष्ठानों में श्रुतज्ञान कारण होने से (अर्थात् श्रुतज्ञान से ही सर्व धर्मानुष्ठानों का ज्ञान व उसमें प्राप्त करने के भाव और उनके आचरण से मिलनेवाले फल का ज्ञान होता है। इसलिए धर्मानुष्ठानों का कारण श्रुतज्ञान होने से) **इस श्रुतज्ञान की समृद्धि प्राप्त करने हेतु 'मैं श्रुतदेवता का कायोत्सर्ग करता हूं।' इत्यादि बोलकर श्रुत के अधिष्ठातृ**

देवता, स्मरण करनेवाले जीवो के कर्मों का क्षय करते होने के कारण श्रुतदेवता का कायोत्सर्ग किया जाता है और कायोत्सर्ग में नमस्कार महामंत्र का चिंतन किया जाता है। देवताकी आराधना स्वल्प प्रयत्न से साध्य होने के कारण यह कायोत्सर्ग आठ उच्छ्वास प्रमाण ही होता है, ऐसा लगता है।

तथा कायोत्सर्ग करके श्रुतदेवता की 'सुयदेवया भगवई' स्तुति बोलें अथवा अन्य व्यक्ति बोलते हों तो उसे सुनें।

इसी प्रकार क्षेत्रदेवता का भी स्मरण युक्त ही है। इसलिए उनका कायोत्सर्ग करें और कायोत्सर्ग के बाद उनकी स्तुति बोलें। **क्षेत्रदेवता का जो प्रतिदिन स्मरण किया जाता है, वह तृतीय व्रत में अभीक्ष्णावग्रहयाचना स्वरुप भावना को सत्य करने के लिए है।** (अर्थात् तृतीयव्रत की रक्षा के लिए उसकी भावना में वसति दाता से बार-बार पूछना होता है कि, 'हम यहां रह सकते हैं' इस प्रकार तृतीय व्रत की भावना है। जैसे ते ते मकान मालिकका ते ते क्षेत्रमें अवग्रह होता है। वैसे ही ते ते क्षेत्रका अवग्रह ते ते देवताका भी होता है।) इसलिए क्षेत्रदेवता को भी स्मरण करके उनसे अवग्रह की याचना कर लेने से तृतीय व्रत निर्मल रहता है, इसी आशय से प्रतिदिन क्षेत्रदेवता का कायोत्सर्ग किया जाता है, ऐसा कायोत्सर्गका प्रयोजन लगता है।

....

नोट : उपरोक्त अभिधान राजेन्द्रकोषके पाठमें प्रतिक्रमण की विधि में..

(१) श्रुतदेवता-क्षेत्रदेवताका प्रतिदिन कायोत्सर्ग करने को कहा गया है व उनकी स्तुति कहने को भी कहा गया है।

(२) श्रुतदेवता की जो '**सुयदेवया भगवई**' स्तुति है, उसमें श्रुतदेवता का अर्थ श्रुत के अधिष्ठातृ देवता किया गया है। इन श्रुतदेवता के कायोत्सर्ग का उद्देश्य कर्मक्षय बताया गया है। मात्र एक नवकार का ही छोटा कायोत्सर्ग क्यों है, इसका कारण भी बताया गया है।

(३) श्रुतदेवता का प्रतिदिन कायोत्सर्ग व उनकी स्तुति श्रुतसमृद्धि की प्राप्ति के लिए करनी है तथा क्षेत्रदेवता का प्रतिदिन कायोत्सर्ग व स्तुति तृतीय व्रत की रक्षा के लिए करनी है।

....

प्रश्न : अभिधान राजेन्द्रकोष में पाक्षिक आदि प्रतिक्रमणमें पक्खि सूत्रके अंतमें 'सुयदेवया' स्तुति बोलने को कहा गया है या नहीं ? यदि कहा गया है तो यहां श्रुतदेवता का अर्थ क्या बताया गया है ?

उत्तर : हां, **अभिधान राजेन्द्रकोष** में पक्खिसूत्रके अंतमें '**सुयदेवया**' स्तुति बोलने को कहा गया है तथा इस स्तुति की टीका करते हुए '**सुयदेवया**' पद से श्रुतदेवता, श्रुतकी अधिष्ठात्री देवी को ग्रहण किया गया है। यह पाठ निम्नानुसार है।

अभिधान राजेन्द्रकोष, भाग-५, 'प' कार विभाग, '**पडिक्कमण**' विभाग में पृष्ठ-३०७ पर पाक्षिक सूत्र के अंत में श्रुतदेवता से विज्ञप्ति करते हुए कहा गया है। यह पाठ निम्नानुसार है।

"साम्प्रतं प्रस्तुतसूत्रपरिसमाप्तौ श्रुतदेवतां विज्ञापयितुमाह-
सुयदेवया भगवई, नाणावरणीयकम्मसंघाय।
तेसिं खवेउ सययं, जेसिं सुयसायरे भत्ती ॥१॥

श्रुतमर्हत्प्रवचनं श्रुताधिष्ठातृ देवता श्रुतदेवता संभवति च श्रुताधिष्ठातृ देवता यदुक्तं कल्पभाष्ये ॥

सव्वं च लक्खणो वेयं समहट्ठुंति देवता सुत्तं च लक्खणो वेयं जेण सव्वण्णु भासियंति ॥

भगवती पूज्यतमा ज्ञानावरणीयकर्मसंघातं ज्ञानघ्नकर्मनिवहं। तेषां प्राणिनां क्षपतु क्षयं नयतु सततमनवरतं येषां किमित्याह - श्रुतमेवातिगंभीरतया अतिशयरत्नप्रचुरतया सागरः समुद्रः श्रुतसागरः तस्मिन् भक्ति बहुमानो विनयश्च समस्तीति गम्यते, ननु श्रुतरुपदेवताया

उक्तरुप विज्ञापना युक्ता श्रुतभक्तेः कर्मक्षयकारणत्वेन सुप्रतीतत्वात् श्रुताधिष्ठातृदेवतायास्तु व्यंतरादिप्रकारायानयुक्ता तस्याः परकर्मक्ष-पणेऽसमर्थत्वादिति तन्न श्रुताधिष्ठात्री देवतागोचरशुभप्रणि- धानस्यापि स्मर्त्तुः कर्मक्षयहेतुत्वेनाभिहितत्वात्, तदुक्तं सुयदेवयाए जीए संभरणं कम्मक्खयकरं भणियं नत्थित्ति अकज्जकरीव एवमासायणातीए किंचेहेदमेव व्याख्यानकर्तृमुचितं येषां सततं श्रुतसागरे भक्तिस्तेषां श्रुताधिष्ठातृदेवता ज्ञानावरणीयकर्मसंघातं क्षपयित्विति वाक्यार्थोपपत्तेः व्याख्यानान्तरे तु श्रुतरुपदेवता श्रुते भक्तिमतां कर्मक्षपयत्विति सम्यग् नोपपद्यते श्रुतस्तुतेः प्राग् बहुशोऽभिहितत्वाच्चेति तस्मात् प्रस्थितमिदमर्हत्पाक्षिकी श्रुतदेवतेह गृह्यते इति ॥

भावार्थ : (प्रारम्भित पाक्षिक सूत्रकी समाप्ति में श्रुतदेवता से विनती करते हैं।) श्रुत अर्थात् अरिहंत परमात्मा का प्रवचन-आगम। इस अर्हत् प्रवचन की जो अधिष्ठाता देवी हैं, वे श्रुतदेवी (कहलाती) है। (इसलिए) श्रुतदेवता के रुप में श्रुताधिष्ठातृ देवी=श्रुतदेवी होना संभव है। (कल्पभाष्य में कहा गया है कि, अर्हत् प्रवचन की अधिष्ठाता देवी, श्रुतदेवी होने की संभावना है।) इसलिए कल्पभाष्यमें कहा गया है कि,

जो वस्तु लक्षणयुक्त होती है, वह सभी वस्तुएं देवता से अधिष्ठित होती हैं और सर्वज्ञभाषित सूत्र सर्व लक्षणों से युक्त हैं। इसलिए उसके अधिष्ठाता देवता हैं।(और वे ही श्रुतदेवी हैं।)

हे पूज्य भगवती ! जीवों के ज्ञान की आशातना करने से उत्पन्न हुए ज्ञानावरणीय कर्म के समूह का नाश करें। जिनकी श्रुतसागर के विषय में निरंतर भक्ति, सन्मान तथा विनय है, उन जीवों के ज्ञानावरणीय कर्म के समूह का नाश करें। ऐसा अर्थ किया जा सकता है।

पूर्वपक्ष : श्रुतरुप देवता से उपरोक्त विज्ञप्ति (विनती) करना युक्त है। क्योंकि, श्रुतभक्ति कर्मक्षय के कारण के तौर पर प्रसिद्ध है। परन्तु व्यंतरादि प्रकार

के श्रुत अधिष्ठातृ देवता से विनती करना युक्त नहीं। क्योंकि, श्रुतदेवी दूसरे के कर्मों का क्षय करने में समर्थ नहीं।

उत्तरपक्ष : आपकी यह बात योग्य नहीं। क्योंकि, श्रुताधिष्ठात्री श्रुतदेवी विषयक शुभ प्रणिधान भी स्मरणकर्ता के कर्मों का क्षय करनेमें कारण है, ऐसा शास्त्रों में कहा गया है। यह शास्त्रवचन इस प्रकार है।

'श्रुतदेवताका स्मरण कर्मका क्षय करनेवाला कहा गया है। 'वे श्रुतदेवता नहीं अथवा हों तो भी कोई कार्य करनेवाले नहीं,' ऐसा कहना श्रुतदेवीकी आशातना है।'

यहां श्रुतदेवता के तौर पर श्रुताधिष्ठात्री देवी का ही व्याख्यान करना उचित है। जिनकी श्रुतसागर के विषय में भक्ति है, उनके हे ! श्रुताधिष्ठातृ देवता ! ज्ञानावरणीय कर्म के समूह का नाश करें।

इस प्रकार वाक्यार्थ की उपपत्ति (संगति) होने से तथा व्याख्यानांतर के विषयमें श्रुतरुप देवता श्रुतसागर में भक्तिवालों के ज्ञानावरणीय कर्मों का क्षय करें, यह अर्थ (व्याख्यान) सम्यक् नहीं बनता, सुसंगत नहीं होता। क्योंकि, श्रुत की स्तुति तो पूर्व में अनेक बार कह चुके हैं।

इस कारण से यह पक्ष स्थिर बनता है कि, श्री अरिहंत परमात्माका पक्ष करनेवाली श्रुतदेवी को श्रुतदेवता के तौर पर ('सुयदेवया' पदसे) ग्रहण किया जाता है।

....

नोट : पाक्षिक सूत्रके अंतमें श्रुतदेवता से विनती करने के लिए **'सुयदेवया'** स्तुति बोली जाती है। इसमें **श्रुतदेवता का अर्थ श्रुत अधिष्ठात्री देवी किया गया है।** विशेष चर्चा उपरोक्त भावार्थ में की है।

....

प्रश्न : अभिधान राजेन्द्रकोषमें प्रतिक्रमण की विधि में श्रावक के वंदित्तुसूत्रकी गाथा कितनी कही गई है ? और यदि ५० गाथात्मक

वंदित्तुसूत्र कहा गया है, तो ४७ वीं गाथा के उत्तरार्धमें 'सम्मदिट्ठी देवा' पद है कि 'सम्मत्तस्य य सुद्धि' पद हैं ?

उत्तर : अभिधान राजेन्द्रकोषमें प्रतिक्रमण की विधिमें वंदित्तुसूत्र ५० गाथात्मक ही कहा गया है और ४७ वीं गाथा के उत्तरार्ध में '**सम्मदिट्ठी देवा**' पद ही है, यह पाठ निम्नानुसार है।

अभिधान राजेन्द्रकोष, भाग-५, विभाग '५'कार, 'पडिक्कमण' विभागमें पृष्ठ-३११ पर श्रावक प्रतिक्रमण की विधि बताई गई है । यहां वंदित्तासूत्र की व्याख्या भी की गई है। वंदित्तासूत्र को ५० गाथात्मक ही कहा गया है। इसमें पृष्ठ-३१७ पर ४७वीं गाथा निम्नानुसार है।

संप्रति मङ्गलपूर्वकं जन्मान्तरेऽपि समाधिबोध्याऽशंसमाह-

"मम मंगलमरहंता, सिद्धा साहु सुअं च धम्मो य ।
सम्मदिट्ठी देवा, दिंतु समाहिं च बोहिं च ॥४७॥"

गाथा-४७ के उत्तरार्धकी टीका इस प्रकार है-

.....तथा सम्यग्दृष्टयोऽर्हत्पाक्षिका देवा भवनवास्याद्याः, ददतु प्रयच्छतु, समाधिं चित्तस्वास्थ्यं, बोधिं च प्रेत्यजिनधर्मप्राप्तिरुपाम्, आह-ते देवा समाधिदाने किं समर्था वा न वा ? यद्यसमर्थास्तर्हि तत्प्रार्थनस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गः, यदि समर्थास्तर्हि सर्वभव्येभ्यः किं न प्रयच्छन्ति । अथैवं मन्यते योग्यनामेव ते समर्था नायोग्यानां, तर्हि योग्यतैव प्रमाणं, किं तैरजागलस्तनकल्पैः, अत्रोच्यते, सर्वत्र योग्यतैव प्रमाणं, परं न वयं विचाराक्षमनियतिवादादिवदेकान्तवादिनः किंतु जिनमतानुयायिनः । तच्च सर्वनयसमूहात्मकस्याद्वादमुद्रानतिभेदि, सामग्री वै जनिकेति वचनात् । यथा घट निष्पत्तौ मृदो योग्यतायामपि कुलालचक्र चीवरदवरकदण्डादयोऽपि तत्र सहकारिकारणं । एवमिहापि जीव योग्यतायां सत्यामपि तथाप्रत्यूहव्यूहनिराकरणेन देवा अपि यक्षाम्बाप्रभृतयः समाधिबोधिदाने समर्था भवन्ति मेतार्यादेरिवेत्यतो न

निरर्थिका तत्प्रार्थनेति ॥४७॥

भावार्थ : हे अर्हत् पाक्षिक सम्यग्दृष्टि देव ! मुझे (धर्म के विषयमें) चित्त की स्वस्थता रुपी समाधि एवं परभवमें जिनधर्म की प्राप्ति स्वरुप बोधि प्रदान करें।

शंका : ये देव समाधि देने में समर्थ हैं कि, असमर्थ हैं ? यदि असमर्थ हैं, तो उनसे की गई प्रार्थना व्यर्थ है और यदि समर्थ है, तो सभी भव्य जीवों को क्यों नहीं देते ? अब यदि आप ऐसा मानते हैं कि, वे देव योग्य जीवों को ही समाधि देने के लिए समर्थ हैं, अयोग्य जीवो को नहीं। तो योग्यता को ही समाधि के लिए प्रमाणभूत मानें। बकरे के गले में निरर्थक स्तन (चमड़ी)की तरह निरर्थक देवों से क्या ? अर्थात् उन निरर्थक देवों से समाधि मांगने का कोई अर्थ नहीं।

समाधान : सभी जगह योग्यता ही प्रमाणभूत है। अर्थात् योग्यता ही मुख्य कारण है। परन्तु हम विचार करने के लिए असमर्थ नियतिवाद आदि की तरह एकांतवादि नहीं। अर्थात् एक ही अपेक्षा को पकडे रखने की (जगत नियति जन्य है, इस बात को पकडे रखने की) तथा अन्य अपेक्षा का विचार न करने की, नियतिवादी आदि जैसे एकांतवादी नहीं। परन्तु जिनमत के अनुयायी हैं। (अर्थात् आगम वचन तथा युक्ति से अयोग्य नियतिवादि आदि एकांतवादियों जैसे एकांतवादी नहीं। बल्कि जिनमत के अनुयायी हैं।) जिनमत सर्वनय का समूहरुप है, इसलिए जिनमत सर्वनय के समूहरुप स्याद्वाद का अतिक्रमण नहीं करता। अर्थात् हम जिनमतके अनुयायी होने से स्याद्वाद सिद्धांत का अनुसरण करनेवाले हैं।

इसीलिए स्याद्वाद सिद्धांत के अनुसार वस्तु में योग्यता होने के बावजूद निमित्तकारण की सामग्री मिले तो ही कार्य की उत्पत्ति होती है। जैसे घट बनाना हो तो मिट्टिमें घट बनने की योग्यता होने के बावजूद कुम्भार, चक्र, डोरी एवं दंड आदि सहयोगी कारण हैं। अर्थात् मिट्टीमें घट बनने की योग्यता होने का बावजूद घट बनाने के लिए चक्रादि सहयोगी कारण हैं। अर्थात्

मिट्टीमें घट बनने की योग्यता होने के बावजूद घट बनाने के लिए चक्रादि कारणों की भी आवश्यकता पड़ती ही है।

इसी प्रकार यहां भी भव्यात्मामें समाधि एवं बोधिलाभ की योग्यता होने के बावजूद उनकी प्राप्ति में आनेवाले विविध प्रकारके विघ्नों के समूह का निराकरण करके यक्ष, अंबा आदि देव भी समाधि-बोधि देने में समर्थ होते हैं। श्री मेतार्य मुनिवर को पूर्वभव के मित्र देव ने जिस प्रकार सहायता दी थी, उसी प्रकार यहां भी समझें। **इसलिए सम्यग्दृष्टि देवताओं की प्रार्थना निरर्थक नहीं ॥४७॥**

....

नोट :

- **उपरोक्त पाठ में स्पष्ट रुपसे यह सिद्ध किया गया है कि,** सम्यग्दृष्टि देव समाधि-बोधि देने में समर्थ हैं।
- ४७वीं गाथा के उतरार्धमें '**सम्मदिट्ठी देवा**' पद ही है। '**सम्मत्तस्स य सुद्धिं**' पद नहीं हैं।
- वंदित्तासूत्र ५० गाथात्मक ही है।
- **सम्यग्दृष्टि देवों से समाधि-बोधि मांगे जा सकते हैं, इसमें कोई दोष नहीं।**

....

इस प्रकार अभिधान राजेन्द्रकोषमें प्रतिक्रमण की विधि से निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं।

(१) प्रतिक्रमण के आद्यंत की चैत्यवंदना बारह अधिकार पूर्वक करें। इसमें बारहवें अधिकार 'वैयावच्चकारी' आदि सम्यग्दृष्टि देवों का है। अर्थात् चतुर्थस्तुति सम्यग्दृष्टि देव-देवी की होती है।

(२) देवसि प्रतिक्रमणमें श्रुतदेवता-क्षेत्रदेवताका कायोत्सर्ग करने को कहा गया है व उनकी स्तुति कहने को कहा गया है। श्रुतज्ञान की समृद्धि प्राप्त

करने के लिए क्षेत्रदेवता एवं तृतीय व्रतकी रक्षा के लिए क्षेत्रदेवता के कायोत्सर्ग का विधान है।

(३) वंदित्तासूत्र ५० गाथात्मक ही है। ४७वीं गाथा में सम्यग्दृष्टि देवताओं से बोधि-समाधि मांगी गई है। देवता ये देने के लिए समर्थ भी हैं।

(४) पाक्षिक सूत्र के अंतमें श्रुतदेवताको '**सुयदेवया भगवई**' स्तुति के माध्यम से विनती की गई है। यहां श्रुतदेवताका अर्थ श्रुत की अधिष्ठात्री देवी-श्रुतदेवी किया गया है। उनके समक्ष कर्मोंके नाश की प्रार्थना की गई है।

(५) पाक्षिक सूत्रकी व्याख्यामें '**देवसक्खियं**' पद की व्याख्यामें कहा गया है कि, विरति का स्वीकार पांच की साक्षी में करना चाहिए। इतना ही नहीं, कोई भी अभिग्रह पांच की साक्षी से करना चाहिए। श्री अरिहंत परमात्मा, श्री सिद्ध परमात्मा, पू.साधु भगवंत, देव तथा आत्मा, इन पांच की साक्षी बताई गई है। ये देववंदन के उपचार से (अर्थात् देववंदन में उनका कायोत्सर्ग करने व स्तुति बोलने से) समीप आते हैं। (और स्वशक्ति से सहायता भी करते हैं) (अभिधान राजेन्द्रकोष पृष्ठ-२८८)

(६) **अभिधान राजेन्द्रकोषमें 'चेइयवंदण' विभागमें पृ. १३२७ पर जिनालयमें करनेका देववंदन में चार थोय करनी कही है। और चारों थोय का हेतु भी बताया है। उसमें चौथी थोय सम्यग्दृष्टि देव की बोली जाती है।**

....

प्रश्न : अभिधान राजेन्द्रकोषमें वंदित्तासूत्र को ५० गाथात्मक (गाथा प्रमाण) कहा गया है और ४७वीं गाथा के उत्तरार्ध में 'सम्मदिट्ठी देवा' पद ही कहा गया है। फिर भी त्रिस्तुतिक मत के लेखक वंदित्तासूत्र के गाथा प्रमाण के लिए और ४७वीं गाथा के उत्तरार्धमें निहित 'सम्मदिट्ठी देवा' पद के लिए अलग अलग अलग अभिप्राय रखते हैं। यह बराबर है?

उत्तर : अभिधान राजेन्द्रकोषमें स्पष्ट लिखा होने के बावजूद त्रिस्तुतिक मत के लेखक इससे अलग अभिप्राय रखते हैं यह शास्त्रविरोधी है।

प्रश्न : त्रिस्तुतिक मत के लेखक वंदित्तासूत्र के लिए, उसकी ४७ वीं गाथा के '**सम्मदिट्ठि देवा**' पद के लिए तथा गाथा के प्रमाण के लिए शास्त्रविरोधी कौन-कौन से अभिप्राय रखते हैं ?

उत्तर : सर्वप्रथम वंदित्तासूत्र की ४७वीं गाथा एवं उसका भावार्थ देखें। इसके बाद त्रिस्तुतिक मत के लेखकों के इस विषय में कुतर्क देखेंगे।

वंदित्तासूत्र की ४७वीं गाथा इस प्रकार है।

मम मंगलमरिहंता, सिद्धा साहू सुअं च धम्मो अ।
सम्मद्दिट्ठी देवा, दिंतु समाहिं च बोहिं च ॥४७॥

भावार्थ : श्री अरिहंत परमात्मा, श्रीसिद्ध भगवान, साधु भगवंत, श्रुतधर्म तथा चारित्रधर्म यह मेरे लिए मंगलरुप है। सम्यग्दृष्टि देवता मुझे समाधि (धर्म के विषय में चित्तकी स्वस्थता) तथा बोधि (परभवमें जिनधर्म-सम्यक्त्व) प्रदान करें।

● श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र की उपरोक्त गाथा में स्पष्टरुप से सम्यग्दृष्टि देवताओं से समाधि -बोधि मांगी गई है।

● त्रिस्तुतिक मतवालों को अपनी मान्यता में उपरोक्त गाथा प्रतिबंधक बनती है। इसीलिए इस मत के लेखक मौखिक व लिखित रुप से इस गाथा के लिए अलग-अलग दुष्प्रचार करते हैं। इस दुष्प्रचार का आकार निम्नानुसार है।

(१) कुछ प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में वंदित्तासूत्र ४३ गाथात्मक देखने को मिलती हैं और ४३वीं गाथा में समाप्ति सूचक '**वंदामि जिणे चउव्वीसं**' यह अन्त्य मंगल भी है। इससे लगता है कि, वंदित्तासूत्र ४३ गाथा तक ही कहलाता था और बाद में देव-देवी की स्तुति के पक्षकारों ने उसमें अन्य सात गाथाएं शामिल की हैं तथा अपने मत की सिद्धि के लिए उन पर चूर्णि भाष्य एवं टीका आदि की रचना की है। (आ.श्री यतीन्द्रसूरि कृत 'श्रीसत्य समर्थक प्रश्नोत्तरी।' पुस्तक, पृष्ठ-३८)

(२) (अ) वंदित्तासूत्र में '**सम्मदिट्ठी देवा**' पद कहना उचित नहीं। परन्तु उसके स्थान पर मरण समाधि पयन्ना का 'सम्मत्तस्स य सुद्धिं' यह पद कहना युक्तिसंगत एवं निर्दोष है। (आ. यतीन्द्रसूरिकृत श्री 'सत्य समर्थक प्रश्नोत्तरी,' पु.पृ.-३८)

(आ) **इसीलिए 'सम्मदिट्ठी देवा' पद के स्थान पर 'सम्मत्तस्स य सुद्धिं' पद उचित है।** (मुनि जयानंदविजयजी कृत '**अंधकार से प्रकाश की ओर**' पु.पृ.-४०/ सत्य की खोज, पृ.-१०५)

(३) सम्यग्दृष्टि देवता से समाधि-बोधि नहीं मांगी जा सकती और सम्यग्दृष्टि देवता समाधि-बोधि देने के लिए समर्थ नहीं। (श्री सत्य समर्थक प्रश्नोत्तरी, पु.पृ-३८, अंधकार से प्रकाश की ओर, पृ-३७,३८, सत्य की खोज, पृ-१०३,१०४)

(४) वंदित्तासूत्र श्रावककृत है कि गणधरकृत है ? इस विषयमें मुनि जयानंदविजयजी ने अपनी पुस्तक के पृ.-३७ पर प्रश्नोत्तरी में बात को मरोड़ने का प्रयास किया है।

(५) मुनि जयानंदविजयजी ने अपने प्रथम पुस्तक में अन्य लेखकों की संभवित बातों को अपने पक्षमें निश्चयात्मक ढंग से रखने का प्रयत्न किया है।

प्रश्न : त्रिस्तुतिक मत के लेखकों द्वारा कुतर्क करके उठाए गए मुद्दों का आपके पास क्या उत्तर है ?

उत्तर : एक बात निश्चित है कि जिसका अभिप्राय सत्य हो, उसे कहीं से भी शास्त्र का समर्थन मिल ही जाता है और जिसका अभिप्राय ही असत्य है, उसे शास्त्र का समर्थन नहीं ही मिलता है। अपनी बात को किसी भी तरह से सिद्ध करने के लिए कुतर्क करने ही पडते है।

समर्थ शास्त्रकार परमर्षि पू.आ.भ.श्री हरिभद्रसूरिजीने योगदृष्टि समुच्चय ग्रंथमें कुतर्कों को अनेक प्रकार से महाभयंकर भावशत्रु बताया है।

बोधरोगः शमाऽपायः श्रद्धाभङ्गोऽभिमानकृत् ।
कुतर्कश्चेतसो व्यक्तं, भावशत्रुरनेकधा ॥८७॥

कुतर्क (आत्माको संप्राप्त) बोध के लिए रोग समान है । (जैसे रोग शरीरका सामर्थ्य हर लेता हैं, वैसे ही कुतर्क आत्माको प्राप्त हुए हेयोपादेयादि के बोध को, कि जो आत्मा की स्वास्थ्य दशा है, उसे हर लेते हैं।)

कुतर्क शम का नाशक है । कुतर्क के कारण असत् अभिनिवेश पैदा होता है। क्योंकि, कुतर्कों से उठनेवाली कल्पनाओं से अपनी बातें सच्ची लगती हैं। जो स्वमत का राग तथा परमत का द्वेष कराती है। जिनके योग से उपशम का नाश होता है।

कुतर्क श्रद्धा से भ्रष्ट करनेवाला है । क्योंकि, 'आगमिक पदार्थों को आगम से समझना' इस शास्त्रवचन को भुला देता है। इस कारण जो आगमिक पदार्थ युक्ति से न बैठें, उनमें अश्रद्धा कराते हैं। आगमिक पदार्थों को युक्ति से ही सच मानने का आग्रह श्रद्धा से भ्रष्ट कर देता है।

कुतर्क मिथ्याभिमान कराता है । क्योंकि कुतर्क करके अन्य की बांते झूठी सिद्ध करके (कुतर्क) स्वोत्कर्षकी भावना प्रबल बनाता है।

इसीलिए कुतर्क अनेक प्रकार से आत्मा का भावशत्रु है।

यहां उपरोक्त सभी मुद्दों का विस्तृत उत्तर दिया जाता है।

- सर्व प्रथम सम्यग्दृष्टि देवताओं से समाधि-बोधि मांगी जा सकती हैं और वे देने में सक्षम भी हैं, इस बात को पूर्वमें एक प्रश्नके उत्तरमें पू.आ.देवेन्द्रसूरिजी कृत वृंदारुवृत्ति का पाठमें (अभिधान राजेन्द्र कोष के माध्यम सें) देखा है। और...
- श्राद्धप्रतिक्रमण सूत्र की 'अर्थदीपिका' टीकामें गाथा-४७ की टीकामें पू.आ.भ.श्री रत्नशेखरसूरिजीने भी उपर दर्शाए अनुसार ही सम्यग्दृष्टि देवताओं को समाधि-बोधि देने में समर्थ दर्शाया है। यह पाठ चतुर्थ

स्तुति निर्णय भाग-१ में (विभाग-२में) दर्शाया गया है।

- **इससे (उपरोक्त ग्रंथके पाठसे) 'श्री सत्य समर्थक प्रश्नोत्तरी' पुस्तक के पृष्ठ-३८ की निम्न बात असत्य है, शास्त्रविरोधी है।**

'देवी-देवता स्वयं कर्मलिप्त हैं। विषयपिपासु है और कषायरंग से रंगे हुए हैं। वे किसी भी आत्मा को कर्ममुक्त नहीं कर सकते और न ही समाधि-बोधि दे सकते हैं। इसलिए 'सम्मदिट्ठी देवा' पद वंदित्तासूत्रमें कहना उचित नहीं।

लेखकश्री की बात वृंदारुवृत्ति तथा अर्थदीपिका टीका से विरुद्ध है। वर्तमानमें श्राद्ध प्रतिक्रमण सूत्र की प्रसिद्ध टीकाओं में लेखक द्वारा कही गई बात है ही नहीं। परन्तु समाधि-बोधि दान में देव-देवी का सामर्थ्य युक्ति से समझाया गया है। इसलिए देव-देवी के पास समाधि-बोधि मांगना युक्तियुक्त है-संगत है।

- दोनों टीकाकार परमर्षियों ने वंदित्तासूत्र की ४७वीं गाथा के उत्तरार्ध में '**सम्मदिट्ठी देवा**' पद को उसी तरह ही रखकर चर्चा की है। जो हम पूर्व में वृंदारुवृत्ति के पाठमें देख चूके हैं। इसी प्रकार अर्थदीपिका टीका में भी है। सूत्रकार परमर्षि ने जो '**सम्मदिट्ठी देवा**' पद; ४७ वीं गाथा के उत्तरार्धमें लिखा है। उस पद को उसी प्रकार रखकर टीकाकारोंने सम्यग्दृष्टि देवता बोधि-समाधि देने में समर्थ हैं, इसकी युक्तिसह विस्तृत चर्चा की है। इसलिए त्रिस्तुतिक मत के दोनों लेखकों ने '**सम्मतस्स य सुद्धिं**' पद रखने की बात की है, यह सूत्रविरोधी एवं टीका विरोधी है। **जो सूत्रविरोधी हो, वह पद रखा ही नहीं जा सकता। अन्यथा सूत्रभेदक कहलाता है। त्रिस्तुतिक मत के लेखकोंने यह कार्य अथवा प्रचार करके सूत्रभेदक का काम तो नहीं किया न ? यह पाठक स्वयं सोचें। जो सूत्र भेदक हो वह उत्सूत्रक कहलाए या नहीं ? यह भी पाठकगण सोचें।**

प्रश्न : आ.यतीन्द्रसूरिजी 'श्री सत्यसमर्थक प्रश्नोत्तरी' पुस्तक के पृष्ठ-३८ पर लिखते हैं कि,

'कुछ प्राचीन हस्तलिखित प्रतियोंमें वंदित्तासूत्र ४३ गाथात्मक देखने को मिलती है और ४३ वीं गाथा में समाप्ति सूचक '**वंदामि जिणे चउव्वीसं**' यह अन्त्य मंगल भी है। इससे लगता है कि, प्राचीनकालमें वंदित्तासूत्र ४३ गाथा तक ही कहलाता था और बाद में देव-देवी की स्तुति के पक्षकारों ने इसमें अतिरिक्त सात गाथाएं शामिल कर दी हैं तथा अपने मत की सिद्धि के लिए उस पर चूर्णि, भाष्य एवं टीका आदि की रचना की है।'

क्या यह बात उनकी सही है?

उत्तर : लेखकश्री की उपरोक्त बातें मिथ्यात्व का भयंकर विलास हैं।

- **हस्तलिखित पत्रोंमें वंदित्तासूत्र ४३ गाथात्मक है, उनकी यह बात सत्य के विरुद्ध है।**
- 'इससे लगता है कि, प्राचीनकाल में वंदित्तासूत्र ४३ गाथा तक ही कहा जाता था।' लेखकश्री की यह बात बिल्कुल असत्य है। क्योंकि, पू.महोपाध्याय श्रीयशोविजयजी महाराजाने प्रतिमाशतक ग्रंथमें काव्य-६७में वंदित्तासूत्र के रचयिता श्रीसुधर्मास्वामीजी गणधर परमात्मा बताए हैं और वंदित्तासूत्र ५० गाथात्मक बताया है। इस बात को अत्यंत सुंदर ढंग से सिद्ध किया गया है। (यह पाठ आगे देखेंगे।)
- 'और पीछे से देव-देवी की स्तुति के पक्षकारों ने उसमें सात गाथाएं शामिल कर दी हैं तथा अपने मतकी सिद्धि के लिए उस पर चूर्णि, भाष्य, टीका आदि की रचना की है।'

-लेखकश्री का यह उन्मत्त प्रलाप है। पूर्वधर महर्षि आदि की घोर आशातना है। क्योंकि, लेखकश्री ने चूर्णिकार आदि पर आरोप लगाया है कि, उन्होंने सात गाथाओं का प्रक्षेप किया है और वह भी देव-देवी के पक्षकार बनकर।

चूर्णिकार, भाष्यकार, टीकाकार ने अपने काल्पनिक मत की सिद्धि के लिए चूर्णि, भाष्य तथा टीका आदि की रचना नहीं की है। बल्कि पू.गणधर भगवंत रचित (वंदित्ता) सूत्र की जानकारी देने के लिए, सूत्र के रहस्य बताने के लिए चूर्णि आदि की रचना की है। चूर्णिकार आदि परमर्षि ऐसे तुच्छ नहीं थे कि, अपने मत की सिद्धि के लिए कुछ गाथाएं या पद जोड़ दे और अनुकूल न हों वे पद निकाल दें अथवा बदल दें।

चूर्णिकार आदि महर्षियों के लिए ऐसे आरोप लगाना यह भारी कर्मीपन का लक्षण है।

सिद्धांत में प्ररुपणा की गई है कि, सूत्र की रचना पू.गणधर भगवंतो ने की है। निर्युक्तिकी रचना पू.श्रुतकेवली महाराजने की है। भाष्य की रचना पूर्वगत सूत्रधारी ने की है। चूर्णि की रचना पू.बहुश्रुत परमर्षियों ने की है । वृत्ति (टीका) की रचना पू.श्री सिद्धसेनाचार्य आदि पू.आ.भगवंतोने की है।

इससे पाठक सोचें कि, चूर्णिकार आदि परमर्षियोने सूत्र में काट-छांट की है, कि लेखकश्रीने अपने मतकी सिद्धि के लिए कुतर्क किए हैं।

हालांकि मुनि जयानंदविजयजी ने अपनी दोनों पुस्तकों में ऐसे आरोप नहीं लगाए हैं . अर्थात् 'पूर्वमें वंदित्तासूत्र ५० नहीं बल्कि ४३ गाथात्मक था और देव-देवीके पक्षकारोंने इसमें सात गाथाओं का प्रक्षेप किया है,' यह आरोप नहीं लगाया है। इससे पूर्व के लेखकों की बात सुधार ली गई है। परन्तु ५० गाथात्मक वंदित्तासूत्र को मानकर ४७वीं गाथा के उत्तरार्ध में '**सम्मत्तस्स य सुद्धि**' पद होना चाहिए, ऐसी सूत्रविरोधी-टीकाविरोधी बात की है। अंततः तो अपने मत की पुष्टि करने का ही काम किया है। सूत्रभेदकका ही काम किया है।

प्रश्न : प्रतिमाशतक ग्रंथ में वंदित्तासूत्र की गाथा कितनी कही गई हैं ? और वंदित्तासूत्र के कर्ता कौन बताए गए हैं ?

उत्तर : प्रतिमाशतक ग्रंथमें वंदित्तासूत्र के कर्ता एवं गाथा प्रमाण की चर्चा की गई है, यह निम्नानुसार है।

कश्चिदाह - एतत् श्रावकप्रतिक्रमणसूत्रं न गणधरकृतं किन्तु श्रावककृतं, तत्रापि 'तस्स धम्मस्स' इत्यादि गाथादशकं (अष्टकं ?) केनचिदर्वाचीनेन क्षिप्तमित्यादि । स क्षिप्तसारबीजजः (क्षिप्तसारबीजः ?) सहसाऽज्ञातकथने तीर्थंकरादीनां महाशातनाप्रसङ्गात् । न हि क्वाप्येतत्सूचकं प्रवचनमुपलभामहे, नवाऽच्छिन्नपरंपरागतवृद्ध-वचनमीदृक् केनचित् श्रुतं, किन्तु यस्य सूत्रादेः कर्त्ता नामग्राहं न ज्ञायते प्रवचने च सर्वसंमतं यत्, तत्कर्त्ता सुधर्मास्वाम्येवेति वृद्धवादः भणितं च तथा विचारामृतसङ्ग्रहेऽपि।

भावार्थ : पूर्वपक्ष : इस वंदित्तासूत्र की रचना पू.गणधर भगवंतोने नहीं की है। बल्कि श्रावक ने की है। इसमें भी 'तस्स धम्मस्स' इत्यादि अंतिम दस (अथवा आठ ?) गाथाएं किसी आधुनिक श्रावक ने जोड़ी है। इसलिए इस सूत्रमें अंतिम गाथाएं प्रमाणभूत नहीं है।

उत्तरपक्ष : अज्ञात विषय में इस प्रकार उतावले निर्णयों से श्री तीर्थंकर आदि की आशातना हो रही है। इस बारेमें विवेक रखना चाहिए था। आगम में अथवा अन्यत्र कहीं भी आप की बात को पुष्ट करनेवाला प्रवचन नहीं मिलता है और अविच्छिन्न श्रुतवृद्ध पुरुषों की परम्परा में भी कही आपके कथन के अनुरुप बात सुनने को नहीं मिलती है। बल्कि वृद्ध समुदाय तो ऐसा है कि, **'जिस सूत्रादि के कर्ता का नाम मिलता न हो और वह सूत्र संघमें सर्वमान्य हो, तो उस सूत्रके कर्ता के तौर पर पू.गणधर भगवंत श्री सुधर्मास्वामीजी को ही स्वीकार करना है।'** इसी बात की पुष्टि **विचारामृत संग्रह ग्रंथमें** की गई है। इसलिए सर्वमान्य अज्ञात कर्त्तृक वंदित्तासूत्र के कर्ता सुधर्मास्वामी हैं। इस प्रकार ५० गाथात्मक सूत्र प्रमाणभूत है।

प्रश्न : वंदित्तासूत्र के विषयमें किसी अन्य ग्रंथ में कोई स्पष्टता है ?

उत्तर : हां है, पू.आ.भ.श्री कुलमंडनसूरिजी कृत '**विचारामृत संग्रह**' ग्रंथमें भी उपरोक्तानुसार बात की गई है तथा एक सुंदर खुलासा भी किया गया है।

एवं चागमस्वरुपे स्थिते दशवैकालिकादीन् परिमितानेव ग्रन्थान् विमुच्य शेषाणां साधुप्रतिक्रमणसूत्रपाक्षिकसूत्रादिबहुग्रन्थानां विरचयितारः केऽपि श्रुतस्थविरा नामग्राहं न श्रुयन्ते तथापि सर्वेऽपि ते ग्रन्थाः प्रमाणमेव, एवं तेषामेव श्राद्धप्रतिक्रमणसूत्रादीनामपि निर्युहकश्रुतस्थविरनामपरिज्ञानेऽप्यागमत्वं प्रमाणत्वं चाविकलमेवो-भयत्रापि प्रामाण्यहेतूनां समानत्वात्, एवं च गणधरकृतमुपजीव्य श्रुतस्थविरैर्विरचितत्वादावश्यकादिसकलानंगप्रविष्टश्रुतस्य स्थविर-कृतत्वमपि सिद्धान्तेऽभ्यधायीति तात्पर्यार्थः, तथा सम्यक् सिद्धान्तहृदयवेदिभिः पूर्वबहुश्रुतैरपि प्रतिक्रमणाद्यावश्यकं सिद्धान्तोपदिष्टतया भणितं।

भावार्थ : इस प्रकार आगम स्वरुप निश्चित होने बावजूद श्री दशवैकालिक आदि परिमित ग्रंथोको छोड़कर शेष साधु प्रतिक्रमणसूत्र, पाक्षिक सूत्रादि बहु ग्रंथो के रचयिता के तौर पर किसी भी श्रुतस्थवीर का नाम सुनाई नहीं देता है। तो भी वे सभी ग्रंथ प्रमाणभूत हैं ही। इसी प्रकार श्राद्ध प्रतिक्रमण आदि ग्रंथो के रचयिता के तौर पर भी श्रुतस्थवीर का नाम ज्ञात न होने के बावजूद इस ग्रंथमें आगमत्व एवं प्रमाणत्व पूर्णतया है ही। क्योंकि, दोनों स्थलों पर प्रमाणता के कारण समान है और इस प्रकार पू.गणधरकृत आगम का आलंबन लेकर श्रुतस्थवीरों द्वारा रचे गए होने से आवश्यकादि सकल अनंगप्रविष्ट श्रुत सिद्धांत के रुप में आगम में कहा गया है। ऐसा तात्पर्य समझें। (**कहनेका आशय यह है कि, आचारांग आदि अंग प्रविष्ट श्रुत के कर्ता गणधर भगवंत हैं और आवश्यक आदि अनंग प्रविष्ट श्रुत के कर्ता श्रुतस्थवीर हैं। यह आगम वचन है।** इसलिए आवश्यक आदि अनंग प्रविष्ट श्रुत भी पू.गणधरकृत आगम

का आलंबन लेकर रचा होने से सिद्धांत ही कहलाता है। इस प्रकार तात्पर्य है **तथा वृद्ध समुदाय है कि, जो सूत्र अज्ञातकर्तृक हो, परन्तु वह सूत्र प्रवचन (श्रीसंघ) में सर्वमान्य हो तो उसके कर्ता के तौर पर श्री सुधर्मास्वामीजी को मानें।** उपर कहा गया है कि, अनंग प्रविष्ट श्रुत के कर्ता के तौर पर श्रुतस्थवीर समझें और प्रतिमा शतक में कहा गया है कि, अज्ञात सूत्र का कर्त्ता श्रीसुधर्मास्वामीजीको मानें। इन दोनों बातों का समन्वय ऐसे करें कि, श्रुतस्थवीर भी अनंग प्रविष्ट श्रुतकी रचना गणधरकृत आगम का आलंबन लेकर ही करते हैं। इसलिए श्रुतस्थवीर की रचना को गणधरकृत कहने में कोई दोष नहीं।)

इस प्रकार अच्छें ढंगसे सिद्धांत के रहस्य को जाननेवाले पूर्वकालीन बहुश्रुतों ने भी श्रावकों के प्रतिक्रमणादि आवश्यक को सिद्धांत के तौर पर उपदेशित किया होने से सिद्धांत कहा गया है।

....

● विचारामृत संग्रह में श्राद्ध प्रतिक्रमणसूत्र के लिए शंका-समाधान दिए गए हैं जो निम्नानुसार हैं।

"ननु साधुप्रतिक्रमणाद्भिन्नं श्रावकप्रतिक्रमणसूत्रमयुक्तं, निर्युक्तिभाष्यचूर्ण्यादिभिरतंत्रितत्वेनानार्षत्वात्, नैवं, आवश्यकादि-दशशास्त्रीव्यतिरेकेण निर्युक्तिनामभावेनौपपातिकाद्युपांगानां च चूर्ण्यभावेनानार्षत्वप्रसङ्गात्, ततः प्रतिक्रमणमप्यस्ति तेषां।"

भावार्थ : शंका : साधु प्रतिक्रमण सूत्र से भिन्न श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र अयुक्त है। (योग्य नहीं है।) क्योंकि, श्राद्ध प्रतिक्रमणसूत्र पर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि आदि रचे न होने से वे सूत्र आर्ष प्रणीत नहीं हैं। (अनार्ष हैं।)

समाधान : आप ऐसा न कहें। क्योंकि, आवश्यक आदि दस ग्रंथो को छोड़कर शेष ग्रंथो की निर्युक्ति नहीं है। इसलिए शेष ग्रंथो को अनार्ष मानने की आपत्ति आएगी और औपपातिक आदि उपांगों की चूर्णि नहीं है। इसलिए

उपांगोंको भी अनार्ष मानने की आपत्ति आएगी। (परन्तु ऐसा तो नहीं है। आवश्यकादि के अलावा अनंग प्रविष्ट श्रुत को श्रुतस्थवीर (आर्ष) प्रणीत ही मानते हैं और उपांगों को भी आर्षप्रणीत ही मानते हैं।) इसलिए श्रुतस्थवीर द्वारा विरचित श्रावकों का अलग ५० गाथात्मक श्राद्धप्रतिक्रमण सूत्र (वंदित्तासूत्र) ही है। (और वह प्रमाणभूत भी है।)

....

- *पू.आ.भ.श्री रत्नशेखरसूरिकृत श्राद्धप्रतिक्रमणसूत्र* (वंदित्तासूत्र) की '**अर्थदीपिका**' टीका में ५० वीं गाथा की टीका में भी उपरोक्त सभी स्पष्टताएं हैं। यह पाठ निम्नानुसार है।

"अत्राह परः-इदं प्रतिक्रमणसूत्रं केन कृतम् ?, उच्यते, यथाऽपर-प्रतिक्रमणसूत्राणि श्रुतस्थविरकृतानि तथैतदपि, यदुक्तमावश्यक-बृहद्वृत्तौ-'अक्खरसन्नी' तिगाथाव्याख्याने-अङ्गप्रविष्टं गणधरकृतमा -चाराङ्गादि, अनङ्गप्रविष्टं तु स्थविरकृतमावश्यकादीनि, अथ श्रावकप्रतिक्रमणसूत्रस्य यद्यार्षत्वं तदा किं न तस्य निर्युक्तिभाष्यादि ? इति चेत् तर्ह्यावश्यकदशवैकालिकादिदशशास्त्रव्यतिरेकेण शेषाणां निर्युक्त्यभावादौपपातिकाद्युपाङ्गानां चूर्णेरप्यभावाद् अनार्षत्वप्रसङ्ग-स्तस्मान्न किञ्चिदेतत् । श्राद्धप्रतिक्रमणसूत्रस्य च विक्रम ११८३ वर्षे श्रीविजयसिंहसूरिश्रीजिनदेवसूरिकृते चूर्णिभाष्ये अपि स्तः वृत्तयश्च बह्वयः, अतः श्रुतस्थविरकृतत्वेन सर्वातीचारविशोधकत्वेन श्रावकैरेतदुपादेयमेव, साधुभिः स्वप्रतिक्रमणसूत्रमिव, एवं सति ये स्वकदाग्रहमात्राभिनिविष्टदृष्टयः पाश्चात्येन केनचित् कृतं सर्वथा चानुपादेयमिति ब्रुवते न विद्मस्तेषां का गतिः ? सर्वज्ञप्रणीतप्राचीन-स्थविराचरितसम्यग्मार्गस्योपमर्दनात् ।"

भावार्थ : शंका : इस श्राद्धप्रतिक्रमणसूत्र (वंदित्तासूत्र) के रचयिता कौन हैं?

समाधान : 'करेमि भंते' आदि प्रतिक्रमण के अन्य सूत्रों के प्रणेता जैसे श्रुत स्थवीर भगवंत हैं। वैसे ही यह वंदित्तु सूत्र भी श्रुतस्थवीर महर्षिने रचा है। इसलिए आवश्यकसूत्र की बृहद्वृत्तिमें '**अक्खरसन्नीसम्मं**' गाथा के व्याख्यान के समय कहा गया है कि, आचारांगादि अंगप्रविष्ट श्रुत पू.गणधर भगवंतोंने रचा है और आवश्यक आदि अनंगप्रविष्ट श्रुत पू.श्रुतस्थवीर भगवंतोंने रचा है।

शंका : यह श्राद्धप्रतिक्रमण सूत्र आर्षप्रणीत (श्री श्रुतस्थवीर भगवंत द्वारा रचित) है, तो उस पर निर्युक्ति आदि की रचना क्यों नहीं हुई ?

समाधान : श्रुतस्थवीर भगवंतो द्वारा रचित ग्रंथो पर निर्युक्ति-भाष्य आदि होने ही चाहिए ऐसा कोई नियम नहीं है। अन्यथा (यदि ऐसा नियम माना जाए तो) आवश्यक, दशवैकालिक आदि दस शास्त्रों को छोड़कर शेष सूत्रों पर निर्युक्ति नहीं होने से तथा औपपातिक आदि उपांगों पर चूर्णि नहीं होने से, इन सभी शास्त्रोंको भी अनार्ष मानने का प्रसंग आएगा। अर्थात् इन शास्त्रों को श्रुतस्थवीर भगवंतो की रचना नहीं माना जा सकेगा। (बल्कि औपपातिक आदि शास्त्रों का श्रुतस्थवीरकी रचना सभी को मान्य है।) इसलिए शंकाकार की बात अयोग्य है। अर्थात् तात्पर्य यह हैं कि, वंदित्तासूत्र पर निर्युक्ति न होने के बावजूद उसके प्रणेता श्रुतस्थवीर भगवंत हैं यह सुनिश्चित है।

वि.सं. ११८३में पू.आ.श्री सिंहसूरिजी तथा पू.आ.भ.श्री जिनदेवसूरिजी ने इस वंदित्तासूत्र पर रचे चूर्णि तथा भाष्य भी हैं, और सुविहित आचार्य भगवंतो द्वारा रचित वृत्तियां (टीकाएं) तो अनेक हैं।

इसलिए जैसे साधु प्रतिक्रमण सूत्र (पगाम सज्झाय) का सन्मान करते हैं। वैसे ही यह श्राद्धप्रतिक्रमण सूत्र भी श्रुतस्थवीर भगवंत की रचना होने से और अतिचार का संशोधक होने से श्रावकों के लिए सन्मान योग्य है।

इस प्रकार श्राद्धप्रतिक्रमण सूत्र पर चूर्णि आदि अनेक शास्त्र होने के बावजूद जो यह सूत्र पीछे से जोडा गया है, इसलिए सर्वथा आदरणीय नहीं है।

इस प्रकार के कदाग्रह मात्रसे अभिनिविष्ट दृष्टिवाले प्रलाप करते हैं, उनकी कैसी गति होगी ?

क्योंकि, सर्वज्ञ प्रणीत एवं प्राचीन श्रुतस्थवीर भगवंतो द्वारा आचरित मार्ग का लोप करते हैं।

....

- **उपर देख चुके वृंदारुवृत्ति, प्रतिमाशतक, विचारामृत संग्रह तथा अर्थदीपिका टीका के पाठोंसे स्पष्ट होता हैं कि,**
- वंदित्तु सूत्र की रचना पू. श्रुतस्थवीर भगवंत ने की है और वह भी पू. गणधर भगवंत कृत श्रुत का आलंबन लेकर की है। इसलिए यह सूत्र गणधर कृत भी कहा जा सकता है।
- चूर्णिकार, भाष्यकार व अनेक टीकाकार महर्षि श्राद्ध प्रतिक्रमण सूत्र को ५० गाथात्मक ही मानते हैं।
- सूत्रकार, चूर्णिकार, भाष्यकार व टीकाकार परमर्षि वंदित्तासूत्रकी ४७वीं गाथा के उत्तरार्ध में निहित '**सम्मदिट्ठी देवा**' पद को ही मान्य करते है। टीकाकारश्री इस पदको मान्य करके ही, इस पद की सार्थकता बताते हैं।
- किसी भी ग्रंथमें '**सम्मदिट्ठी देवा**' पद के स्थान पर '**सम्मत्तस्स य सुद्धि**' पद ग्रहण किया हो ऐसी साक्षी नहीं मिलती है।
- मरण समाधि पयन्नाका इन ग्रंथ में अन्य अभिप्राय में कहा गया '**सम्मत्तस्स य सुद्धि**' पद वंदित्तासूत्र की ४७वीं गाथा में रखनेवाला सूत्रभेदक है। अर्थात् उत्सूत्रक है।
- सम्यग्दृष्टि देवताओं से समाधि-बोधि मांगने में दोष नहीं है। वे विघ्नों का नाश करके समाधि-बोधि देने में समर्थ हैं। अर्थात् सोपक्रम कर्म के उदय से साधक की साधनामें आए विघ्नों का नाश करने के लिए सम्यग्दृष्टि देवता समर्थ हैं।

- वंदित्तासूत्र श्रावककृत नहीं है। पू. श्रुतस्थवीर भगवंत प्रणीत है।
- सम्यग्दृष्टि देवताओं के लिए 'वे तो विषमपिपासु हैं, कषायरंगसे रंगे हैं' इत्यादि कहना यह उनकी आशातना है।

-शास्त्रपाठों के आधार पर किए गए उपरोक्त खुलासों से त्रिस्तुतिक मतवाले सच्चे हैं या चतुर्थ स्तुति माननेवाले सच्चे हैं ? यह पाठक स्वयं सोचें-सोचकर सत्यमार्ग को ग्रहण करनेवाले बनें।

प्रश्न : आ. यतीन्द्रसूरिजी स्वलिखित श्रीसत्यसमर्थक प्रश्नोत्तरी पुस्तक के पृष्ठ-३९ पर एक प्रश्न के उत्तरमें लिखते हैं कि,

'श्रुतदेवता तथा क्षेत्रदेवताका कायोत्सर्ग व उनकी स्तुति करने की प्रथा लघुशांति की तरह प्रतिक्रमण में गतानुगतिक से शुरु हो गई है। देव उपासकों द्वारा स्वयं स्वीकृत मार्ग सिद्ध करने के लिए प्रतिक्रमण की विधिओं में उसकी घुसपैठ की है। शास्त्रोक्त न होने से मानने लायक नहीं और प्रतिक्रमणमें इन काउस्सग्गोंकी कोई आवश्यकता भी नहीं। यदि ऐसा कहें कि पाक्षिक प्रतिक्रमणमें पाक्षिक सूत्रके अंतमें '**सुयदेवया भगवई**' गाथा अन्त्य मंगलरुप कहलाती है, यह भी श्रुतदेवता की ही स्तुति है। तो इसे कैसे बोला जाए ? इसका समाधान यह है कि, श्रुतदेवता का अर्थ देवी विशेष समझना भूल है। भगवती सूत्र की टीका तथा पंचसंग्रहकी टीकामें श्रुतदेवता शब्द का अर्थ जिनवाणी कहा गया है। जिनवाणी स्वयं कर्म रजसे अलिप्त है और अन्य के ज्ञानावरणीय आदि कर्मनाश करने में समर्थ है। इसलिए.......

सुयदेवया भगवई, नाणावरणीयकम्मसंघायं।
तेसिं खवेउ सययं, जेसिं सुयसायरे भत्ती ॥

इसका शुद्ध अर्थ ऐसा होता है कि, जिन पुरुषोंकी हंमेशा श्रुतसागरमें भक्ति है, तन्मयता है। उन पुरुषोंके ज्ञानावरणीय आदि कर्मसमूहों का जिनवाणी नाश करे।

इसलिए यह गाथा पाक्षिकसूत्र के अंतमें मांगलिक स्वरुप है। इसीलिए यह बोलने में कोई दोषापत्ति नहीं। आवश्यक चूर्णिमें प्रतिक्रमण विधि के साथ श्रुत-क्षेत्रदेवता का कायोत्सर्ग व स्तुति नहीं कही है। इसलिए ऐसा नहीं कहना चाहिए।'

क्या लेखकश्रीकी उपरोक्त बात आपको स्वीकार्य है?

उत्तर : लेखकश्री की उपरोक्त बात असत्य है। क्योंकि, पाक्षिकसूत्र की टीका में '**सुयदेवया...**' गाथा के अर्थमें श्रुतदेवता का अर्थ जिनवाणी नहीं किया गया है, बल्कि श्रुतकी अधिष्ठातृ देवी श्रुतदेवता, यह अर्थ किया गया है। इस पाक्षिक सूत्र की टीका पाठ निम्नानुसार है।

"सुयगाहा ॥ श्रुतमर्हत्प्रवचनं श्रुताधिष्ठातृ देवता श्रुतदेवता संभवति च श्रुताधिष्ठातृ देवता यदुक्तं कल्पभाष्ये ॥

सव्वं च लक्खणो वेयं समहट्ठंति देवता सुत्तं च लक्खणो वेयं जेण सव्वण्णु भासियंति ॥

भगवती पूज्यतमा ज्ञानावरणीयकर्मसंघातं ज्ञानघ्नकर्मनिवहं। तेषां प्राणिनां क्षपतु क्षयं नयतु सततमनवरतं येषां किमित्याह श्रुतमेवातिगंभीरतया अतिशयरत्नप्रचुरतया सागरः समुद्रः श्रुतसागरः तस्मिन् भक्ति बहुमानो विनयश्च समस्तीति गम्यते,

ननु श्रुतरुपदेवताया उक्तरुपविज्ञापना युक्ता श्रुतभक्तेः कर्मक्षयकारणत्वेन सुप्रतीतत्वात् श्रुताधिष्ठातृदेवतायास्तु व्यंतरादि-प्रकारायानयुक्ता तस्याः परकर्मक्षपणेऽसमर्थत्वादिति तन्न श्रुताधिष्ठात्री देवतागोचरशुभप्रणिधानस्यापि स्मर्तुः कर्मक्षयहेतुत्वेनाभिहितत्वात्, तदुक्तं 'सुयदेवयाए जीए संभरणं कम्मक्खयकरं भणियं नत्थित्ति अकज्जकरीव एवमासायणातीए' किंचेहेदमेव व्याख्यानकर्तृमुचितं येषां सततं श्रुतसागरे भक्तिस्तेषां श्रुताधिष्ठातृ देवता ज्ञानावरणीयकर्मसंघातं क्षपयित्विति वाक्यार्थोपपत्तेः व्याख्यानांतरे तु श्रुतरुपदेवता श्रुते

भक्तिमतां कर्मक्षपयत्विति सम्यग् नोपपद्यते श्रुतस्तुतेः प्राग् बहुशोऽभिहितत्वाच्चेति तस्मात् प्रस्थितमिदमर्हत्पाक्षिकी श्रुतदेवतेह गृह्यते इति ॥

भावार्थ : (अब प्रारम्भित पाक्षिकसूत्र की समाप्ति में श्रुतदेवता से विनती करते हैं।) श्रुत अर्थात् श्री अरिहंत परमात्मा का प्रवचन-आगम। इस अर्हत् प्रवचन की जो अधिष्ठाता देवी हैं, वे श्रुतदेवी (कहलाती) हैं। (इसलिए) श्रुतदेवता स्वरुप श्रुताधिष्ठातृ देवी-श्रुतदेवी होने की संभावना है। (कल्पभाष्यमें कहा गया है कि, अर्हत् प्रवचन की अधिष्ठाता देवी, श्रुतदेवी होने की संभावना है।) इसलिए कल्पभाष्य में कहा गया है कि,

जो वस्तु लक्षण युक्त होती हैं, वे सभी वस्तुएं देवतासे अधिष्ठित होती हैं और सर्वज्ञभाषित सूत्र सर्व लक्षणों से युक्त है। इसलिए उसके अधिष्ठाता देवता हैं। (और वही श्रुतदेवी हैं।)

हे पूज्य भगवती ! जीवों के ज्ञान की आशातना करने से उत्पन्न ज्ञानावरणीय कर्म के समूह का नाश करें। जिनकी श्रुतसागर के प्रति निरंतर भक्ति सन्मान एवं विनय है, ऐसे जीवों के ज्ञानावरणीय कर्म के समूह का नाश करें। ऐसा (अर्थ) प्रतीत होता है।

पूर्वपक्ष : श्रुतरुप देवता से विज्ञप्ति (विनती) करना उचित है। क्योंकि, श्रुतभक्ति कर्मक्षय के कारण स्वरुप प्रसिद्ध है। परन्तु व्यंतरादि प्रकारके श्रुत अधिष्ठातृ देवतासे विज्ञप्ति करना युक्त नहीं। क्योंकि, श्रुतदेवी अन्य के कर्मों का क्षय करने में समर्थ नहीं।

उत्तरपक्ष : आपकी यह बात उचित नहीं। क्योंकि, श्रुताधिष्ठात्री-श्रुतदेवी सम्बंधी शुभ प्रणिधान भी स्मरण कर्ता के कर्मों का क्षय करनेमें कारण है, ऐसा शास्त्रमें कहा गया है। यह शास्त्रवचन इस प्रकार है।

'श्रुतदेवता का स्मरण कर्म का क्षय करनेवाला कहा गया है। ये श्रुतदेवता

नहीं अथवा हो तो भी कोई कार्य करनेवाला नहीं, ऐसा कहना श्रुतदेवी की आशातना है।'

यहां श्रुतदेवता के रुपमें श्रुताधिष्ठात्री देवी का ही व्याख्यान करना उचित है। जिनकी श्रुतसागर के प्रति भक्ति है, उनके हे ! श्रुताधिष्ठातृ देवता ! ज्ञानावरणीय कर्म के समूह का नाश करें।

इसी प्रकार वाक्यार्थ की उपपत्ति (संगति) होने से तथा व्याख्यानांतर के विषयमें श्रुतरुप देवता श्रुतसागर में भक्तिवालों के ज्ञानावरणीय कर्मोंका क्षय करें, यह अर्थ (व्याख्यान) तो पूर्वमें कई बार कह चुके हैं। इस कारण यह पक्ष स्थिर बनता है कि, श्री अरिहतं परमात्माका पक्ष करनेवाली श्रुतदेवी, श्रुतदेवता के रुप में ('सुयदेवया' पद से) ग्रहण की जाती हैं।

....

- पाक्षिक सूत्रकी टीका के उपरोक्त पाठ में श्रुतदेवता से श्रुताधिष्ठातृ श्रुतदेवी (व्यंतर निकाय की देवी विशेष) ग्रहण की हैं। इसलिए लेखकश्री की बात असत्य है।

मुनिश्री जयानंदविजयजी ने भी अपनी पुस्तकों में श्रुतदेवता का अर्थ जिनवाणी किया है, यह योग्य नहीं है।

- भगवती सूत्र तथा पंचसंग्रहमें श्रुतदेवता का अर्थ जिनवाणी किया है, यह बात सही है, किन्तु पाक्षिकसूत्र के अंतमें मांगलिक के रुपमें बोली जानेवाली '**सुयदेवया**' गाथामें श्रुतदेवता पद से श्रुत अधिष्ठात्री श्रुतदेवी ही ग्रहण करनी है। टीकाकार श्रीने खुलासा किया है कि, श्रुतकी स्तुति तो पूर्वमें कई बार कर चुकें हैं। इसलिए यहां श्रुत अधिष्ठात्री देवी से प्रार्थना की गई है और यही औचित्य है।
- **टीकाकारश्रीने कल्पभाष्य ग्रंथके पाठ के आधार पर दूसरा एक खुलासा किया है कि, 'जो वस्तुएं लक्षणयुक्त होती हैं, वे सभी**

वस्तुएं देवता से अधिष्ठित होती हैं और सर्वज्ञ भाषित सूत्र सर्व लक्षणों से युक्त है। इसलिए अधिष्ठाता देवता है।' (और वही श्रुतदेवी हैं।)

श्रुतकी अधिष्ठात्री श्रुतदेवी होने के कारण 'श्रुतदेवता' पद से श्रुतदेवी ग्रहण किया जा सकता है।

- **टीकाकारश्रीने यह भी खुलासा किया है कि, जैसे श्रुतभक्ति कर्मक्षयके कारण स्वरुप प्रसिद्ध है, वैसे ही श्रुताधिष्ठात्री-श्रुतदेवी विषयक शुभ प्रणिधान भी स्मरणकर्ताके कर्मों का क्षय करनेवाला कारण है।**
- 'श्रुतदेवी नहीं है, हों तो भी अकिंचित्कर हैं।' इत्यादि बोलना श्रुतदेवीकी आशातना है।

इस प्रकार पाक्षिक सूत्रकी टीका के पाठ से फलित होता है कि, श्रुतदेवी का स्मरण करने में कोई दोष नहीं।

- 'आवश्यकचूर्णिमें प्रतिक्रमण की विधिके साथ श्रुतदेवता-क्षेत्रदेवताका कायोत्सर्ग एवं स्तुति नहीं कही गई है।' ऐसा जो मुनि श्रीजयानंदविजयजीने कहा है, वह असत्य है। क्योंकि, आवश्यक चूर्णिमें चातुर्मासी में तथा सांवत्सरिकमें क्षेत्रदेवताका कायोत्सर्ग करने को कहा गया है और वर्तमान में प्रतिदिन क्यों करें, इस बारेमें जीवानुशासनमें कहा गया है। ये दोनों पाठ पूर्वमें दिए जा चुके हैं।

आगम में (आवश्यक चूर्णिमें) श्रुतदेवता की विनयभक्ति करने को कहा गया है।

- '**श्रुतदेवी दृष्टि देने मात्र से भगवंतकी आज्ञा में रत पुरुषों को सुर-नर की ऋद्धि प्रदान करती हैं।**' यह कथन आराधना पताका ग्रंथमें देखने को मिलता है।

- '**श्रुतदेवी हमें ज्ञान देनेवाली बनें**' यह कथन उत्तराध्ययन सूत्रकी बृहद्वृत्ति में है।
- पू.आ.भ.श्री हरिभद्रसूरिकृत आवश्यकवृत्ति में कथन हैं कि,

'जिनवरेन्द्र श्रीमहावीर परमात्मा, श्रुतदेवता एवं गुरुओ को नमस्कार करके आवश्यक सूत्रकी वृत्तिकी रचना करता हूं।'

- अनुयोगद्धार सूत्र की वृत्तिमें कहा गया है कि,

'जिस श्रुतदेवी के अतुल्य अनुग्रह को प्राप्त करके भव्यजीव अनुयोगके जानकार बनते हैं। उस श्रुतदेवी को में नमस्कार करता हूं।'

- श्री निशिथचूर्णिमें सोलहवें उद्देशा में भाष्यचूर्णि में साधुओं को वनदेवताओं के कायोत्सर्ग करने को कहा गया है। यह पाठ निम्नानुसार है।

"ताहे भागममुणंता वालवुड्ढं गच्छस्य रक्खणट्ठाए वणदेवताए काउस्सग्गं करेंति ॥ इत्यादि"

इस प्रकार देव-देवी के कायोत्सर्ग व उनकी थोय कहने में कोई दोष नहीं। बल्कि यह प्रवृत्ति करने में अनेक शास्त्रों का समर्थन प्राप्त है। अविच्छिन्न सुविहित परम्परा का समर्थन है और प्रवृत्ति करने में ही औचित्य है।

उचित प्रवृत्ति धर्म का मूल है। इसलिए शास्त्रों में कहा गया है कि, **'धर्मादिमूलमौचित्यम्'**

इसलिए देव-देवीके कायोत्सर्ग व उनकी थोयका निषेध करनेवाले त्रिस्तुतिक मतवालों की बातें शास्त्रविरोधी एवं परम्परा विरुद्ध हैं।

प्रश्न : देवसि प्रतिक्रमण की आदिमें तथा राई प्रतिक्रमणके अंत में चैत्यवंदना करने का विधान किस शास्त्र में है?

उत्तर : देवसि प्रतिक्रमण की आदिमें तथा राई प्रतिक्रमण के अंतमें चैत्यवंदना करने की विधि **प्रवचन सारोद्धार** तथा **यतिदिन चर्या** में कही गई है।

(प्रवचन सारोद्धार ग्रंथकी रचना पू.आ.भ.श्री नेमिचंद्रसूरिजी महाराजाने की है और उस पर टीका की रचना पू.आ.भ.श्री सिद्धसेनसूरिजीने की है।)

प्रवचन सारोद्धार में चैत्यवंदना द्वारमें गाथा नं.९०में साधु भगवंतो के सात प्रकारके चैत्यवंदन बताए गए है तथा गाथा नं.९१में श्रावक के लिए भी कहा गया है कि,

पडिक्कमणे चेइहरे, भोयणं समयंमि तह य संवरणे ।
पडिक्कमण सुयण पडिबोहकालियं सत्तहा जइणो ॥९०॥
पडिक्कमणो गिहिणो विहु, सत्तविह पंचहा उ इयरस्स ।
होइ जहण्णेण पुणो, तीसुवि संजासु इय तिविहं ॥९१॥

गाथार्थ : (दिन-रातके दौरान) साधु के लिए, (१) सुबह प्रतिक्रमण के अंतमें (विशाललोचनका), (२) जिनालयमें, (३) भोजन के समय (पच्चक्खाणके समयका), (४) भोजन करने के बाद (पच्चक्खाण के लिए,) (५) शाम को प्रतिक्रमण के प्रारम्भमें, (६) संथारा पोरिसी कराते समय तथा (७) सुबह उठकर, इस प्रकार सात बार चैत्यवंदन होते हैं। (९०)

दो टाइम प्रतिक्रमण करनेवाले श्रावक को साधुकी भांति सात बार, जो श्रावक प्रतिक्रमण न करें उनके लिए पांच बार तथा जघन्य से तीन संध्या के समय करने से तीन बार चैत्यवंदना होती है। (९१)

अत्र वृत्तिः ॥ साधूनां सप्तवारान् अहोरात्रमध्ये भवति चैत्यवंदनं गृहिणः श्रावकस्य पुनश्चैत्यवंदनं प्राकृतत्वाल्लुप्तप्रथमैकवचनान्तमेतत् । तिस्रः पंच सप्तवारा इति । तत्र साधूनामहोरात्रमध्ये कथं तत्सप्तवारा भवंतीत्याह पडिक्कमणेत्यादि । प्राभातिक प्रतिक्रमणपर्यंते ततश्चैत्यगृहे तदनु भोजनसमये तथाचेति समुच्चये भोजनानंतरं च संवरणे संवरणनिमित्तं प्रत्याख्यानं हि पूर्वमेव चैत्यवंदने कृते विधीयते तथा संध्यायां प्रतिक्रमणप्रारंभे तथा स्वापसमये तथा निद्रामोचनरुप प्रतिबोधकालिकं च सप्तधा चैत्यवंदनं भवति यतेर्जातिनिर्देशादेकवचनं यतीनाममित्यर्थः ।

गृहिणः कथं सप्तपंचतिस्रो वारांश्चैत्यवंदनमित्याह पडिक्कमउ

इत्यादि । द्विसंध्यं प्रतिक्रामतो गृहस्थस्यापि यतेरिव सप्तवेलं चैत्यवंदनं भवति । यः पुनः प्रतिक्रमणं न विधत्ते तस्य पंचवेलं जघन्येन तिसृष्वपि संध्यासु ॥

भावार्थ : साधुओं को एक अहोरात्रि में सात बार चैत्यवंदना करनी चाहिए तथा श्रावकों को तीन बार, पांच बार और सात बार करनी चाहिए। इसमें साधुओं की एक अहोरात्रि में सात बार चैत्यवंदना कैसे होती है यह बताया गया है।

एक प्राभातिक (सुबह) प्रतिक्रमण के अंतमें, इसके बाद जिनमंदिर में जाकर दूसरी करनी होती है। इसके बाद तीसरी भोजन के समय, तत्पश्चात् चौथी भोजन करने के बाद, संवरण के निमित्त पच्चक्खाण लेना हैं, वह पच्चक्खाण चैत्यवंदन करके लेना होता है। अर्थात् भोजन के बाद चौथी चैत्यवंदना। पांचवी संध्या के प्रतिक्रमण के प्रारम्भमें, छठवीं रात्रिमें सोते समय तथा सातवीं सुबह जागने के बाद करनी होती है। साधुओं के लिए ये सात चैत्यवंदना करने के समय हैं।

श्रावक यदि उभयकाल प्रतिक्रमण करता हो, तो साधुकी तरह सात बार चैत्यवंदना करे और प्रतिक्रमण न करता हो, तो पांच बार और जघन्य से तीनबार तीन संध्या को तो करे ही।

....

उपरोक्त प्रवचन सारोद्धार मूल ग्रंथ व उसकी टीका में स्पष्ट रुप से देवसि प्रतिक्रमण की आदिमें तथा राई प्रतिक्रमण के अंत में चैत्यवंदना करने को कहा गया है।

चौर्यासी हजार श्लोक प्रमाण **स्याद्वाद रत्नाकर** ग्रंथ के रचयिता पू.आ.भ.श्री वादीदेवसूरिजी ने **यतिदिन चर्या** में भी गाथा-६५में उपरोक्त बात कही है।

पडिक्कमणे चेइहरे भोयणसमयंमि तहय संवरणे ।
पडिक्कमण सूयण पडिबोह कालियं सत्तहा जइणो ॥६४॥

इसलिए प्रतिक्रमण की आद्यंतमें की जानेवाली चैत्यवंदना शास्त्रसापेक्ष ही है। सुविहित महापुरुषों ने मान्य की है। इसलिए सुविहित परम्परा है और प्रवचन सारोद्धार ग्रंथकारश्री ने उसे सुविहित परम्पराके रुपमें मान्य किया है।

प्रश्न : चैत्यवंदना में चार थोय करते हैं, ये किस आधार पर करते हैं?

उत्तर : जिनमंदिरके अंदर होनेवाली चैत्यवंदना-देववंदन में चार थोय विहित हैं, यह हम पूर्वमें ललितविस्तरा और चैत्यवंदन महाभाष्य ग्रंथके पाठों से देख चूके हैं। इसके अलावा पू.आ.भ.श्री **देवसूरिजी** कृत **यतिदिनचर्यामें,** महोपाध्याय **श्रीमानविजयजी** कृत **धर्मसंग्रहमें, वंदनकचूर्णि** में, **प्रवचनसारोद्धार** में, **देववंदन लघुभाष्य** में तथा **भाष्यकी वृत्तिमें** चार थोय से चैत्यवंदना करने को कहा गया है।

● पू.आ.भ.श्री देवसूरिजी कृत यतिदिनचर्याका पाठ :-

"**पञ्चभिर्दण्डकैः, स्तुतिचतुष्केण, शक्रस्तवपञ्चकेन, प्रणिधानेन चोत्कृष्टा चैत्यवंदनेति**"

-पांच दंडकों से, **चार थोय** से, पांच शक्रस्तव से तथा प्रणिधान पाठ से श्रेष्ठ चैत्यवंदना होती है।

● पू.महोपाध्याय श्रीमानविजयजी कृत धर्मसंग्रह का पाठ :-

"**तथा पञ्चदण्डकैः (१) शक्रस्तव, (२) चैत्यस्तव, (३) नामस्तव, (४) श्रुतस्तव, (५) सिद्धस्तवाख्यैः, स्तुतिचतुष्टयेन, स्तवनेन जयवीयरायेत्यादि प्रणिधानेन च उत्कृष्टा ॥**"

तथा (१) शक्रस्तव, (२) चैत्यस्तव, (३) नामस्तव, (४) श्रुतस्तव, (५) सिद्धस्तव, नामक पांच दंडको से, **चार स्तुतियों** से, स्तवन तथा जयवीयराय

आदि इत्यादि प्रणिधान पाठ से श्रेष्ठ चैत्यवंदना होती है।

● वंदनकचूर्णि का पाठ :-

"तहा सक्कत्थयाइदंडगपंचग-थुईचउक्क पणिहाणकरणतो संपुण्णा, एसा उक्कोसा।"

-तथा शक्रस्तवादि पांच दंडको, **चार स्तुतियों** व प्रणिधान करने से सम्पूर्ण चैत्यवंदना होती है। यह श्रेष्ठ चैत्यवंदना कहलाती है।

● प्रवचन सारोद्धार वृत्ति का पाठ :

"एवं च शक्रस्तवपञ्चकं भवति, उत्कृष्टचैत्यवन्दनया वन्दितुकामः साधुः श्रावको वा चैत्यगृहादौ गत्वा यथोचितप्रतिलेखित प्रमार्जितस्थण्डिलस्त्रैलोक्यगुरौ विनिवेशितनयनमानसः संवेगवैराग्य-भरोज्जृम्भमाणरोमाञ्चकञ्चुकितगात्रः प्राप्तप्रकर्षहर्षवशविसर्पद्बाष्प-पूरपुर्णनयननलिनः सुदुर्लभं योगमुद्रया जिनसंमुखं शक्रस्तवमस्ख-लितादिगुणोपेतं पठति, तदनु ऐर्यापथिकीप्रतिक्रमणं करोति, ततः पञ्चविशंत्युच्छ्वासमानं कायोत्सर्गं कृत्वा पारयित्वा 'लोगस्सुज्जो-अगरे' त्यादि परिपूर्णं भणित्वा जानुनी च भूमौ निवेश्य मार्जितकरकुशेशयस्तथाविधसुकविकृतिजिननमस्कारभणनपूर्वं शक्रस्तवादिभिः पञ्चभिर्दण्डकैर्जिनमभिवन्दते, चतुर्थस्तुतिपर्यन्ते पुनः शक्रस्तवमभिधाय द्वितीयवेलं तेनैव क्रमेण वन्दते, तदनु चतुर्थशक्रस्तव भणनानन्तरं स्तोत्रं पवित्रं भणित्वा 'जयवीयराय' इत्यादिकं च प्रणिधानं कृत्वा पुनः शक्रस्तवमभिधत्ते, इत्येषोत्कृष्टा चैत्यवन्दना ऐर्यापथिकी प्रतिक्रमणपूर्विकैव भवति, जघन्य-मध्यमे तु चैत्यवन्दने ऐर्यापथिकी-प्रतिक्रमणमन्तरेणापि भवतीति"

-पांच शक्रस्तव इस प्रकार से होते हैं-श्रेष्ठ चैत्यवंदना से देववंदन करने की इच्छावाला साधु अथवा श्रावक जिनमंदिर में जाकर, यथायोग्य प्रतिलिखित एवं प्रमार्जित किया हुआ है स्थान जिसका, नयन व मन जिसने त्रिलोक के नाथ

परमगुरु (तीर्थंकर) के विषय में स्थिर किया है, संवेग एवं वैराग्य के समूह से उत्पन्न हुए रोमांचो से जिनका शरीर छा गया है। संप्राप्त अतिहर्ष के वश निकले अश्रुजल से जिनके नयनकमल भर गए हैं, 'भगवान के चरणकमल की वंदना अतिदुर्लभ है,' इस प्रकार का सन्मान करनेवाला तथा अंगोपांग को जिसने अच्छी तरह से संवर लिया है, (ऐसे साधु अथवा श्रावक) योगमुद्रा से भगवान के आगे शक्रस्तव को अस्खलितादि गुणों से युक्त बोले। फिर इरियावही प्रतिक्रमण करके पच्चीस श्वासोश्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करे, **'लोगस्स उज्जोअगरे'** इत्यादि सम्पूर्ण कहे। इसके बाद दोनों घुटने जमीन पर रखकर हाथ जोड़कर अच्छे कवियों द्वारा रचे हुए अपूर्व नमस्कार (स्तोत्र पाठपूर्वक शक्रस्तवादि पांच दंडको से जिनवंदन करे। **चौथी थोय के अंतमें पुनः शक्रस्तव कहकर दूसरी बार भी इसी क्रम से जिनवंदन करे।** इसके बाद चौथी बार शक्रस्तव कहने के बाद पवित्र स्तोत्र बोलकर 'जयवीयराय' इत्यादि प्रणिधान पाठ कहकर पुनः शक्रस्तव कहे, इस प्रकार यह श्रेष्ठ चैत्यवंदना इर्यापथिकी प्रतिक्रमण पूर्वक ही होती है। परन्तु जघन्य तथा मध्यम चैत्यवंदना इर्यावही के बिना भी होती है।

- देववंदन लघुभाष्य का पाठ :

"इरि १, नमुक्कार २ नमुत्थुणं ३ ऽरिहंतथुई ४ लोग ५ सव्व ६
थुई ७ पुक्खव ८। थुइ ९ सिद्धा १० वेया ११ थुई १२॥
नमो त्थु जावंति थय थयवी॥६२॥
सव्वोवाहिविसुद्धं एवं जो वंदए सया देवे।
देविंदविंदमहिअं परमपयं पावइ लहु सो॥६३॥"

–इर्यावही, नमस्कार, नमुत्थुणं, अरिहंत चेइयाणं, स्तुति (थोय), लोगस्स, सव्वलोअे, स्तुति, पुक्खरवरदी, स्तुति, सिद्धाणं बुद्धाणं, वैयावच्चगराणं, स्तुति, नमुत्थुणं, जावंति, स्तवन तथा जयवीयराय॥६२॥

इस विधि से सर्वोपाधिविशुद्ध जो नित्य देववंदन करते हैं, वे जल्दी देवेन्द्रपूजित परमपद को प्राप्त करते हैं।

- भाष्यवृत्ति :

"ततः सिद्धणि-सिद्धाणमित्यादि भणित्वा 'वेयत्ति' वेयावच्चगराणमित्यादिना कायोत्सर्गः कार्यः ततः 'थुई त्ति' वैयावृत्यकरादिविषयैव चतुर्थी स्तुति दीयते ॥"

भावार्थ : इसके बाद 'सिद्धाणं बुद्धाणं' कहकर 'वैयावच्चगराणं' इत्यादि से कायोत्सर्ग करें। तत्पश्चात् थोय अर्थात् वैयावच्च करनेवाले देवों की चौथी थोय कहें।

....

उपरोक्त शास्त्रपाठों में बताई गई चैत्यवंदन-देववंदन की विधिमें चौथी थोय स्पष्ट रुप से कहने को कहा गया है। पूर्वमें बताए अनुसार ललितविस्तरा पंजिका, चैत्यवंदन महाभाष्य में वैयावच्चकारी देव-देवी का कायोत्सर्ग तथा उनकी थोय विहित एवं उपयोगी है, यह सिद्धकर दिया है।

शास्त्ररुपी दीपक प्रकाश फैलाता है, फिर भी इस प्रकाशमें विहित-अविहित पदार्थों का जिसे दर्शन ही नहीं करना और मात्र कुतर्क करके प्रकाश के नाम से अंधकार में भटकना ही है, उसके लिए तो कोई उपाय ही नहीं है।

चौथी थोय की विहितता एवं उपयोगिता हमने देखी। त्रिस्तुतिक मतके लेखकश्रीने देववंदन को भावानुष्ठान कहा है। इस भावानुष्ठान में भी चौथी थोय का समर्थन उपरोक्त दर्शाए शास्त्रोंने किया ही है।

प्रश्न : प्रतिक्रमण के प्रारम्भ में होनेवाली चैत्यवंदना में चार थोय किस आधर पर कही जाती है ?

उत्तर : कलिकाल सर्वज्ञ पू.आ.भ.श्री हेमचंद्रसूरिजी महाराजाने योगशास्त्रवृत्ति में पूर्वाचार्य प्रणीत जो गाथाएं प्रस्तुत की हैं, उन्हें ही महोपाध्याय

श्रीमानविजयजी कृत धर्मसंग्रह ग्रंथ में देवसि प्रतिक्रमण की विधि दर्शाने के लिए रखी हैं। जो निम्नानुसार हैं। इनमें प्रतिक्रमण के प्रारम्भ में चार थोय से चैत्यवंदना करने की विधि बताई गई है।

पूर्वाचार्य प्रणीता: गाथ:।

पंचविहायार विसुद्धि-हेउमिह साहु सावगो वावि ।
पडिक्कमणं सह गुरुणा, गुरुविरहे कुणइ इक्को वि ॥१॥
वंदित्तु चेइयाई, दाउं चउराइ ए खमासमणे ।
भूनिहिअ सिरोसयला-इआरे मिच्छा दुक्कडं देइ ॥२॥
सामाइय पुव्व मिच्छामि ठाउं काउस्सग्गमिच्चाइं ।
सुत्तं भणिअ पलंबिअ, भुअ कुप्परधरिय पहिरणओ ॥३॥
घोडगमाई अ दोसेहिं विरहिअंतो करइ उस्सग्गं ।
नाहिअहोज्जाणुद्धं चउरंगुल ठविअ कडिपट्टो ॥४॥
तत्थय धरेइ हिअए-ज्जहक्कमं दिणकएअ अईआरे ।
पारिउ णमोक्कारेण पढइ चउवीस थयदंडं ॥५॥
संडासगे पमज्जिअ, उवविसिअ अलग्ग विअय बाहुज्झुओ ।
मुहणं तगं च कायं, पेहेए पंचवीस इह ॥६॥
उट्ठिअठिओ सविणयं, विहिणा गुरुणो करेइ किइकम्मं ।
बत्तीसदोसरहिअं पणवीसावस्सगविसुद्धं ॥७॥
अह सम्ममवणयंगो करजुग विहि धरिअ पुत्ति रयहरणो ।
परिचिंतिअ अइआरे जहक्कम्मं गुरु पुरोविअडे ॥८॥
अह उववसित्तु सुत्तं, सामाइअ माइअ पढिअ पयओ ।
अब्भुट्ठिओम्हि इच्चाइ, पढइ दुहओ ठिओ विहिणा ॥९॥
दाउण वंदणं तो, पणगाइ सुज्जइ सुखामए तिन्नि ।
किइ कम्मं किरि आयरिअ, माइ गाहातिगं पढइ ॥१०॥
इअ सामाइअ उस्सग्ग, सुत्त मुच्चरिअ काउस्सग्ग ठिओ ।
चिंतइ उज्जोअदुगं चरित्त अइआर सुद्धिकए ॥११॥

विहिणा पारिअ सम्मत्त, सुद्धि हेउं च पढइ उज्जोअं ।
तह सव्वलोअ अरिहंत चेइआराहणुस्सग्गं ॥१२॥
काउं उज्जोअगरं चिंतिअ पारेइ सुद्धसंमतो ।
पुक्खरवरदीवड्ढे, कड्ढइ सुअ सोहण निमित्तं ॥१३॥
पुण पण वीसुस्सासं, उस्सगं कुणइ पारए विहिणा ।
तो सयल कुसल किरिआ फलाण सिद्धाण पढइ थयं ॥१४॥
अह सुअ समिद्धिहेउं सुअ देवीए करेइ उस्सग्गं ।
चिंतेइ नमोक्कारं सुणइ व देईव तीइ थुयं ॥१५॥
एवं खित्तसुरीए उस्सग्गं कुणइ सुणइ देइ थुइं ।
पढिउण पंचमंगल, मुवविसइ पमज्ज संडासे ॥१६॥
पुव्वविहिणेव पेसिअ, पुत्तिं दाउण वंदणे गुरुणो ।
इच्छामो अणुसट्ठित्ति, भणिओ जाणुहिं तो ठाई ॥१७॥
गुरु थुई गहणे थुइतिण्णि, वद्धमाणक्खरस्सरो पढइ ।
सक्कत्थयत्थवं पढिअ कुणइ पच्छित्ता उस्सग्गं ॥१८॥

भावार्थ : चिरतंनाचार्य कृत गाथाओं से प्रतिक्रमण की विधि इस प्रकार है।

इस मनुष्यजन्म में साधु तथा श्रावक को भी पंचविध आचार की शुद्धि करनेवाला प्रतिक्रमण गुरु के साथ अथवा गुरु का योग न हो तो अकेले भी अवश्य करना चाहिए। (१)

(जावंति चेइयाइं, जावंत केवि साहु; ये दो गाथा, स्तोत्र (स्तवन) प्रणिधान (जयवीयराय) छोडकर शेष शक्रस्तव पर्यंत (चार थोय से) चैत्यवंदना करके चार 'भगवानहं' प्रमुख खमासमणां देकर (भूमि के विषय में मस्तक रखकर सभी अतिचारों का मिच्छामि दुक्कड़ं करें ।(२)

प्रथम सामायिक (करेमि भंते), इच्छामि ठामि काउस्सग्गं इत्यादि सूत्र बोलें और बादमें भुजाएं और कोहनी लंबी करके रजोहरण अथवा चरवलो तथा

मुहपत्ति हाथ में रखकर घोडग आदि दोष टालकर काउस्सग्ग करें, उस समय पहना हुआ चोलपट्टा नाभि से नीचे और घुटने से चार अगुंली ऊंचा होना चाहिए। (३-४)

कायोत्सर्ग करते हुए दिन में हुए अतिचार क्रमशः मनन करें। इसके बाद नवकार पूर्वक कायोत्सर्ग पारकर लोगस्स कहें। (५)

संडासक पूंजकर नीचे बैठकर परस्पर छुएं नहीं इस प्रकार दोनों भुजाएं लंबी करके मुहपत्ति एवं काया की २५-२५ पडिलेहणा करें। उठकर विनय से विधिपूर्वक गुरु को वंदन करें। इसमें बत्रीस दोष टालने और २५ आवश्यक की विशुद्धि का ध्यान रखें। इसके बाद सम्यक् प्रकार से शरीर नमाकर दोनों हाथ में यथाविधि मुहपत्ति और रजोहरण अथवा चरवला लेकर गुरु के आगे क्रमशः अतिचार प्रकट करें। (६-७-८)

इसके बाद नीचे बैठकर सामायिक (करेमि भंते) आदि सूत्र यतना से कहें। फिर उठकर '**अब्भुट्ठिओम्हि**' आदि पाठ विधिपूर्वक कहें। (९)

फिर वांदणा देकर पांच आदि साधु हों तो तीन बार खमावें और बाद में वांदणा देकर '**आयरिय**' इत्यादि तीन गाथाका पाठ करें। (१०)

इस प्रकार सामायिक सूत्र तथा कायोत्सर्ग सूत्रका पाठ कहकर चारित्राचार की शुद्धि के लिए कायोत्सर्ग करके उसमें दो लोगस्स का मनन करें।

फिर यथाविधि कायोत्सर्ग करके सम्यक्त्व की शुद्धि के लिए प्रकट लोगस्स कहें। तथा सर्वलोक में रहे हुए अरिहंत परमात्मा के चैत्यों की आराधना के लिए कायोत्सर्ग करके उसमें एक लोगस्स का मनन करें और इससे शुद्धसम्यक्त्वधारी होकर कायोत्सर्ग पारें। इसके बाद श्रुतशुद्धि के लिए पुक्खरवरदी कहें। (१२-१३)

तत्पश्चात् २५ उच्छवास का कायोत्सर्ग करें और यथाविधि पारें। इसके बाद सकल शुभ क्रिया के फल पानेवाले सिद्ध परमात्मा का स्तव कहें। (१४)

फिर श्रुतसमृद्धि के लिए श्रुतदेवी का कायोत्सर्ग करें और उसमें नवकार का मनन करें। इसके बाद श्रुतदेवी की थोय सुनें अथवा स्वयं कहें।(१५)

इसी प्रकार क्षेत्रदेवता का कायोत्सर्ग करके उनकी थोय सुनें अथवा स्वयं कहें। फिर पंचमंगल कहकर संडासा प्रमार्जित करके नीचे बैठें। (१६)

इसके बाद पूर्वोक्त विधि से ही मुहपत्ति पडिलेहणा करके गुरु को वांदणा दें। इसके बाद '**इच्छामो अणुसट्ठिं**' कहकर घुटनों के बल बैठें। (१७)

वर्धमान अक्षर तथा (वर्धमान) स्वरवाली '**नमोऽस्तु वर्धमानाय**' आदि तीन स्तुति उच्च स्वरमें कहें। इसके बाद नमुत्थुणं कहकर प्रायश्चित के लिए कायोत्सर्ग करें। (१८)

....

- योगशास्त्र के अंतर्गत पूर्वाचार्यकृत गाथाओं के आधार पर उपरोक्त धर्मसंग्रह ग्रंथमें देवसि प्रतिक्रमण की विधि बताई गई है। इसमें

(१) प्रतिक्रमणके प्रारम्भमें चैत्यवंदन करने की विधि बताई गई है।

(२) चैत्यवंदन भी जावंति०, जावंत०, ये दो गाथा, स्तवन, प्रणिधान छोड़कर शक्रस्तव पर्यंत चार थोय से करने को कहा गया है। अर्थात् चैत्यवंदना चार थोय से करने की कही गई है।

प्रश्न : आपने जो देवसि प्रतिक्रमण की विधि पूर्वाचार्यों की गाथाओं के आधार पर बताई है, उसमें दूसरी गाथामें तो 'वंदित्तु चेइयाई' इस पद से चैत्यवंदन करने को ही कहा गया है। चार थोय से चैत्यवंदना को कहां कहा गया है?

उत्तर : विधिप्रपा ग्रंथ में '**वंदित्तु चेइयाई**' पद का तात्पर्य लिखा गया है कि,

"सावओ गुरुहि समं इक्को जावंति चेइयाइं ति गहा दुगथुत्त

पणिहाणवज्जं चेइयाइं वंदित्तु।''

भावार्थ : श्रावक अपने गुरु के साथ अथवा अकेला जावंति चेइयांइ, ये दो गाथा, स्तोत्र, प्रणिधान, छोड़कर शेष शक्रस्तव पर्यंत चार थोय से चैत्यवंदना करके....

विधिप्रपा ग्रंथ के उपरोक्त पाठ से सिद्ध होता है कि, प्रतिक्रमण के प्रारम्भ में की जानेवाली चैत्यवंदना चार थोयसे ही करनी है।

प्रश्न : यहां तो आपने जावंति चेइआइं, जावंत के वि; ये दो गाथा, स्तोत्र (स्तवन), प्रणिधान इसको छोडकर शक्रस्तव पर्यन्त चैत्यवंदना करने को कहा गया है। चार थोय से ही चैत्यवंदना करने को कहां कहा है?

उत्तर : पूर्व में प्रवचन सारोद्धार आदि के पाठ दिए हैं। इनमें चैत्यवंदना १२ अधिकार पूर्वक करने को कहा गया है तथा प्रतिक्रमण के प्रारम्भ में जो चैत्यवंदना करनी है, वह भी १२ अधिकारपूर्वक ही करनी है। क्योंकि, पूर्वाचार्य कृत गाथाओं के आधार पर योगशास्त्र, धर्मसंग्रह आदि ग्रंथ में प्रतिक्रमण की विधि की गाथाओं में प्रतिक्रमणकी प्रारंभिक चैत्यवंदना करने की विधि बताने के लिए '**वंदित्तु चेइयाई**' पद दिया है, और इस पद का तात्पर्य बताते हुए (ऊपर दर्शाए अनुसार) विधिप्रपामें भी चार थोय से ही चैत्यवंदना करने अर्थात् १२ अधिकारपूर्वक चैत्यवंदना करने को कहा है। इसके अलावा **अभिधान राजेन्द्रकोष में भी प्रतिक्रमण की विधि बताते हुए जो प्रारम्भिक चैत्यवंदना बताई गई है, वह १२ अधिकारपूर्वक अर्थात् चार थोय से ही करने को कहा गया है तथा 'इति हेतोः' कहकर १२ अधिकार भी बताए गए हैं। इसमें वैयावच्चकारी देवता का कायोत्सर्ग व उनकी थोय कहने को भी कहा गया है। (अभिधान राजेन्द्रकोष का यह पाठ आगे दर्शाया जा चुका है।)**

इसलिए प्रतिक्रमण के प्रारम्भमें चार थोय से चैत्यवंदना पूर्वाचार्यकृत गाथाओं से सिद्ध होती है।

(३) इसी प्रकार धर्मसंग्रह ग्रंथ के अलावा श्राद्धविधि, वृंदारुवृत्ति, अर्थदीपिका, खरतर बृहत्सामाचारी, पूर्वाचार्य कृत सामाचारी, तपागच्छीय श्री सोमसुंदरसूरिकृत सामाचारी, तपागच्छीय श्री देवसुंदरसूरिकृत सामाचारी, योगशास्त्र, पू. कालिकाचार्य सूरि संतानीय श्री भावदेवसूरि विरचित यतिदिन चर्या आदि अनेक शास्त्रों में देवसि प्रतिक्रमण की आदि में तथा राई प्रतिक्रमण के अंतमें चार थोयसे चैत्यवंदना करने को कहा गया है।

(४) तपागच्छ में वर्तमान में इसी प्रकार देवसि प्रतिक्रमण होता है। प्रायश्चित के कायोत्सर्ग के बाद वैराग्यगर्भित सज्झाय बोलने तथा कर्मक्षय के निमित्त चार लोगस्स का कायोत्सर्ग तथा उपर शांति कहने की प्रवृत्ति सुविहित परम्परा से चलती है।

विचित्रता यह है कि, त्रिस्तुतिक मतवाले परम्परा से आए कर्मक्षय निमित्त का कायोत्सर्ग करते हैं और शांति नहीं बोलते हैं। अनुकूल परम्परा का अनुसरण करना और प्रतिकूल परम्परा का अनुसरण नहीं करना, यह कैसा न्याय है?

दूसरी विचित्रता यह है कि, मूलसूत्रों में प्रतिक्रमण की विधि में प्रतिक्रमण के प्रारम्भ में चैत्यवंदन करने को नहीं कहा गया है। **फिर भी वर्तमानमें सुविहित परम्परा से आयी चैत्यवंदना वे करते हैं, परन्तु सुविहित परम्परा से आई चार थोय की चैत्यवंदना नहीं करते। यह भी बड़ी विचित्रता कहलाएगी न?**

वास्तवमें तो मूलसूत्रों में प्रतिक्रमण के प्रारम्भ में व अंत में चैत्यवंदना करने और वह किस क्रमसे करना यह ज्ञात ही नहीं-यह कहा ही नहीं गया है। ऐसा संघाचारवृत्तिमें पू.आ.भ.श्री धर्मघोषसूरिजी स्पष्ट रुप से कहते हैं। प्रतिक्रमण के आद्यंत की चैत्यवंदना पूर्वाचार्य कृत सामाचारी से ही ज्ञात है,- बताया गया है तथा यह चैत्यवंदना करने का क्रम ललितविस्तरा से ज्ञात है।

इस प्रकार पूर्वाचार्यकृत गाथाओं से प्रतिक्रमण की आद्यंतमें चैत्यवंदना होती है। इसलिए वह चार थोय से होती है।

यह वास्तविकता होने के बावजूद त्रिस्तुतिक मतवाले पूर्वाचार्यकृत गाथाओं के आधार पर प्रतिक्रमण की आद्यंतमें चैत्यवंदना करते हैं। परन्तु वह चार थोय से ही नहीं करते। **यह सुविहित परम्परा के विरुद्ध है और जो सुविहित परम्परा से विरुद्ध हो, वह शास्त्रसापेक्ष नहीं ही होता है। सुविहित परम्परा शास्त्र सापेक्ष ही होती है। शास्त्रनिरपेक्ष नहीं होती। जो सुविहित परम्परा को न माने। वह परम्परा का विरोधी कहलाता है और इसीलिए शास्त्र निरपेक्ष कहलाता है।**

जो शास्त्रनिरपेक्ष हो वह उत्सूत्र कहलाता है। इस प्रकार त्रिस्तुतिक मत उत्सूत्र है।

पूर्व में ठाणांग सूत्र की टीका के आधार पर कहा गया था कि, ज्ञानप्राप्ति-ज्ञानवृद्धि के सात उपाय है।

(१-५) पंचांगी, (६) परम्परा, (७) अनुभव।

इस प्रकार परम्परा को मान्य करनेवाली ठाणांगसूत्र की वृत्ति (टीका) है। टीका पंचांगी के अन्य चार अंगो से निरपेक्ष नहीं होती, सापेक्ष ही होती हैं। इसलिए पंचांगी को भी परम्परा मान्य है। अर्थात् ***परम्परा भी आराधनाके मार्ग जानने का उपाय है। जैसे पंचांगी से मोक्षमार्ग के उपाय जानने को मिलता है, वैसे ही परम्परा से भी मोक्षमार्ग*** **के उपाय प्राप्त होते ही हैं।**

जो सुविहित परम्परा को न माने, वह ठाणांगसूत्र की वृत्ति को नहीं मानता, उसका विरोधी है इसलिए यावत् पंचांगी का विरोधी है, ऐसा समझें।

(५) **अभिधान राजेन्द्रकोषमें** भाग-२में पृष्ठ-२६७ पर '**पडिक्कमण**' विभाग में प्रतिक्रमण की विधिकी चर्चा की गई है। इसमें सम्यग्दृष्टि देवताके

स्मरणार्थ १२ वां अधिकार बताया गया है। (चैत्यवंदन भाष्य के आधार पर।) संक्षिप्त में चैत्यवंदन भाष्य के आधार पर १२ अधिकारवाली चैत्यवंदना बताई गई है। (स्मरण रहे कि प्रतिक्रमण की प्रारम्भकी चैत्यवंदना करने समय यह बारह अधिकार बताए गए हैं।) अर्थात् चार थोय से चैत्यवंदना बताई गई है।

इसी विभागमें पृष्ठ-२६७ पर प्रतिक्रमण की विधिमें श्रुतदेवता का कायोत्सर्ग तथा उनकी स्तुति बोलने को भी कहा गया है।

इसके बाद तुरंत तीसरे व्रतकी रक्षा के लिए क्षेत्रदेवता का कायोत्सर्ग करने व उनकी थोय कहने को कहा गया है।

इस प्रकार अभिधान राजेन्द्रकोष जो, त्रिस्तुतिक मतवाले आ.श्री राजेन्द्रसूरिजी ने तैयार कराया है, उसमें भी-

(१) प्रतिक्रमण की आद्यंत में चार थोय की चैत्यवंदना बताई गई है और

(२) श्रुतदेवता-क्षेत्रदेवता का कायोत्सर्ग व उनकी थोय कहने को कहा गया है।

(६) जानकारी के अनुसार आ.श्री राजेन्द्रसूरिजी अपना मत असत्य जानने के बाद तीन थोय के मत को त्याग करके चार थोय के मतको स्वीकार करने की भावना रखते थे। परन्तु किसी कारणवश वे ऐसा नहीं कर पाए होंगे ! इसलिए ऐसा लगता है कि, उन्होंने अभिधान राजेन्द्रकोष में प्रतिक्रमणकी विधिमें सत्य मत प्रकट किया होगा और अंत तक संभाला होगा।

पिछले कुछ समय का जैनशासन का इतिहास देखने पर ऐसा लगता है कि, उन्मार्ग स्थापकों से उनके अनुयायी दो कदम आगे बढते हैं। यह कलिकालकी बलिहारी ही समझें।

(७) उपरोक्त धर्मसंग्रह ग्रंथ के पाठमें (अर्थात् पूर्वाचार्यकृत गाथाओं में से गाथा-१५ व १६में श्रुतदेवता एवं क्षेत्रदेवता का कायोत्सर्ग करने को कहा गया है। वह भी प्रतिक्रमणमें प्रतिक्रमण के अंत में नहीं। साथ ही उनकी थोय कहने को भी कहा गया है।

प्रश्न : राई प्रतिक्रमण के अंतमें जो चार थोय की चैत्यवंदना की जाती है। वह किस आधार पर की गई है ?

उत्तर : राई प्रतिक्रमणके अंतमें चार थोय से चैत्यवंदना करने की विधि श्राद्धविधि ग्रंथमें बताई गई है। श्राद्धविधि ग्रंथमें द्वितीय रात्रिकृत्य प्रकाशमें राई प्रतिक्रमण की विधि बताते हुए कहा गया है कि,

एवं ता देवसिअं, राइअमवि एवमेव नवरि तहिं ।
पढमं दाउं मिच्छामि दुक्कडं पढइ सक्कत्थयं ॥१९॥

–राई प्रतिक्रमण की विधि भी इसी प्रकार है। इसमें यही विशेष है कि, प्रथम मिच्छामि दुक्कडं देकर फिर शक्रस्तव कहें। (१९)

उट्ठिअ करेइ विहिणा, उस्सग्गं, चिंतए अ उज्जोअं ।
बीअं दंसणसुद्धीइ, चिंतए तत्थ इममेव ॥२०॥

–उठकर यथाविधि कायोत्सर्ग करें तथा उसमें लोगस्स का मनन करें और दर्शनशुद्धि के लिए दूसरा कायोत्सर्ग करके उसमें भी लोगस्स का ही मनन करें।

तइए निसाइआरं, जहक्कमं चिंतिउण पारेइ ।
सिद्धत्थयं पढित्ता, पमज्जसंडासमुवविसइ ॥२१॥

–तीसरे कायोत्सर्ग में रात्रि को हुए अतिचार क्रमशः स्मरण करें और फिर पारें। इसके बाद सिद्धस्तव कहकर संडासा प्रमार्जित कर बैठें। (२१)

पुव्वं च पुत्तिपेहणवंदणमालोअसुत्तपढणं च ।
वंदण खामण वंदण गाहातिगपढणमुस्सगो ॥२२॥

–पूर्व की भांति मुहपत्ति की पडिलेहणा, वंदना तथा लोगस्स सूत्र के पाठ तक करें। इसके बाद वंदना, खामणां, पुनः वंदना करके '**आयरिय**' वाली तीन गाथा कहकर कायोत्सर्ग करें। (२२)

तत्थ य चिंतइ संजमजोगाण न होइ जेण मे हाणी ।
तं पडिज्जामि तवं छम्मासं ता न काउमलं ॥२३॥

–इस कायोत्सर्ग में ऐसा मनन करें–कि 'जिसमें मेरे संयमयोगे की हानि न

हो ऐसी तपस्या को मैं अंगीकार करुं। पहले छह मासी तप करने की तो मुझमें शक्ति नहीं। (२३)

एगाइइगुणतीसूणयंपि न सहो न पंचमासमवि।
एवं चउतिदुमासं, न समत्थो एगमासंपि ॥२४॥

–छह मासी में एक दिन कम, दो दिन कम, इस प्रकार २९ दिन कम करें, तो भी इतनी तपस्या करने की मुझमें शक्ति नहीं। तथा पंचमासी, चारमासी, त्रिमासी, दो मासी व एक मासखमण भी करने की मुझमें शक्ति नहीं। (२४)

जातंपि तेरसूणं, चउतीसइमाओ दुहाणीए।
जा चउथंतो आयंबिलाइजापोरिसि नमो वा ॥२५॥

–मासखमण में तेरह दिन कम करें तब तक तथा सोलह उपवास से लेकर एक एक उपवास कम करते हुए अंततः चौथभक्त (एक उपवास) तक तपस्या करने की भी मुझमें शक्ति नहीं। इस तरह आयंबिल आदि, पोरिसी व नवकारशी तक चिंतन करें। (२५)

जं सक्कइ तं हिअए, धरेत्तु पारेत्तु पेहए पोत्तिं।
दाउं वंदणमसढो, तं चिअ पच्चक्खए विहिणा ॥२६॥

–ऊपर कहीं गई तपस्या में जो तपस्या करने की शक्ति हो वह हृदयमें निर्धारित करें और कायोत्सर्ग पारकर मुहपत्ति पडिलेहणा करें। फिर सरल भाव से वांदणा देकर जो तपस्या मन में निर्धारित की हो उसका यथाविधि पच्चक्खाण लें। (२६)

इच्छमो अणुसट्ठिंति भणिअ उवविसिअ पढइ तिण्णि थुई।
मिउसद्देणं सक्कत्थयाइ तो चेइए वंदे ॥२७॥

–फिर '**इच्छामो अणुसट्ठिं**' कहकर नीचे बैठकर धीमे स्वर से (विशाल लोचन का) तीन थोय का पाठ करें। इसके बाद नमुत्थुणं आदि (चार थोयसे) चैत्यवंदन करें। (२७)

....

उपरोक्त राई प्रतिक्रमण की विधि में स्पष्ट रुप से चार थोय की चैत्यवंदना करने को कहा गया है।

प्रश्न : श्रुतदेवता-क्षेत्रदेवता का कायोत्सर्ग करने की बात किन ग्रंथो में है?

उत्तर : आवश्यक सूत्रकी निर्युक्ति-हारिभद्रीय टीका में क्षेत्रदेवता का कायोत्सर्ग करने का विधान है। यह पाठ निम्नानुसार है।

चाउम्मासि य वरिसे, उस्सग्गो खित्तदेवयाए य ।
पक्खिय सिज्झ सुराए, करेंति चउमासिए वेगे ॥१॥

अस्य व्याख्या ॥ चाउ. ॥ क्षेत्रदेवतोत्सर्गं कुर्वंति । पाक्षिके शय्यासुर्याः । केचिच्चातुर्मासिके शय्यादेवताया अप्युत्सर्ग्गं कुर्वंति ।

भावार्थ : कुछ आचार्य चातुर्मासी तथा सांवत्सरिक के दिन क्षेत्रदेवता का कायोत्सर्ग करते हैं और पाक्षिक में भवनदेवता का कायोत्सर्ग करते हैं व कुछ चातुर्मासिक के दिन भवनदेवता का कायोत्सर्ग करते हैं।

● उपरोक्त पाठ में भवनदेवता एवं क्षेत्रदेवता का कायोत्सर्ग करने को कहा गया है।

त्रिस्तुतिक मत के लेखक मुनिश्री जयानंदविजयजी 'अंधकार से प्रकाश की ओर' पुस्तकमें पृष्ठ-२-३ पर प्रतिक्रमण में किए जानेवालें श्रुतदेवता एवं क्षेत्रदेवता के कायोत्सर्ग के लिए काफी असंगत चर्चाएं करके अतंमें लिखते हैं कि,

"इस प्रकार सबसे पहले श्रुतदेवता और क्षेत्रदेवता काउसग्ग का प्रवेश प्रतिक्रमण में श्री हरिभद्रसूरिजी के समय में हुआ।"

यह बात कितनी असत्य है, यह पू.आ.भ.श्री कुलमंडनसूरिजी द्वारा विरचित 'विचारामृत संग्रह' ग्रंथ के पाठ को देखने से ख्याल आएगा।

"श्रीवीरनिर्वाणात् वर्षसहस्त्रे पूर्वश्रुतं व्यवच्छिन्नं । श्रीहरिभद्रसूर-यस्तदनु पंचपंचाशता वर्षैः दिवं प्राप्ता तद्ग्रंथकरण-

कालाच्चाचरणाया: पूर्वमेव संभवात् श्रुतदेवतादिकायोत्सर्ग: पूर्वधरकालेऽपि संभवति स्मेति ॥"

भावार्थ : श्री वीर परमात्मा के निर्वाण से हजार वर्ष व्यतीत होने के बावजूद पूर्वश्रुत का व्यवच्छेद हुआ। इसके बाद पचपन (५५) वर्ष बीतने के बाद श्री हरिभद्रसूरिजी स्वर्ग गए। श्री हरिभद्रसूरिजी के ग्रंथकरण काल से पहले भी यह आचरणा चलती थी। इस कारण श्रुतदेवतादिका कायोत्सर्ग पूर्वधरों के काल में भी संभव था।

....

- **उपरोक्त पाठ से पाठक विचार कर सकेंगे कि, तथाकथित लेखकश्री की बात सही है या पू.आ.भ.श्री कुलमंडनसूरिजी की बात सही है।**

(नोट :- पाठकों की याद रखने की मर्यादा एवं परस्पर अनुसंधान के बिना बोध नहीं होता है। इसलिए एक पाठ दो-तीन बार दिया है।)

- **पू.आ.भ.श्री हरिभद्रसूरिजी भी पंचवस्तु ग्रंथमें गाथा-४९१ में कहते हैं कि, प्रतिक्रमण में क्षेत्रदेवतादि का कायोत्सर्ग आचरणा से चलता है। यहां कई बातें उल्लेखनीय हैं।**

(१) पू.आ.भ.श्री हरिभद्रसूरिजी पंचवस्तु ग्रंथ में गाथा ४४५ से ४९२ तक प्रतिक्रमण की विधि बताते हैं और उनमें कहते हैं कि, आचरणा से श्रुतदेवता-क्षेत्रदेवताका कायोत्सर्ग किया जाता है।

(२) दूसरी बात यह है कि, पू.आ.भ.श्री के समय से भी पूर्व प्रतिक्रमणमें क्षेत्रदेवतादि का कायोत्सर्ग किया जाता हो तब ही पू.आ.भ.श्री कह सकते हैं कि, आचरणा से श्रुतदेवतादि का कायोत्सर्ग प्रतिक्रमण में किया जाता है और यदि उनके समय से क्षेत्रदेवतादि का कायोत्सर्ग शुरु हुआ होता तो, वे ऐसा नहीं कह सकते थे।

(३) तीसरी बात वे कहते हैं कि, आचरणा से क्षेत्रदेवतादि का कायोत्सर्ग होता है। इससे यह फलित होता हैं कि, विचारामृत संग्रहमें बताए अनुसार पू.आ.भ.श्री के कालधर्म के ५० वर्ष पहले पूर्वधर महर्षियों का काल था, तब भी प्रतिक्रमणमें क्षेत्रदेवतादि का कायोत्सर्ग किया जाता होगा और अविच्छिन्न सुविहित परम्परा को ही आचरणा कहा जाता है। इसलिए पू.आ.भ.श्री के शासनकाल से पूर्व भी अविच्छिन्न रुप से प्रतिक्रमणमें क्षेत्रदेवतादि का कायोत्सर्ग करने की आचरणा चलती होगी। इस प्रकार पंचवस्तु एवं विचारामृत संग्रह दोनो ग्रंथकी बात संगत हो जाती है।

- अब पंचवस्तु ग्रंथ का वह पाठ देखें।

पम्हट्ठमेरसारणा, विणओ उ ण फेडिओ हवइ एवं।
आयरणा सुअदेवयमाईणं होइ उस्सग्गो ।।४९१।।
वृत्तिः- तत्र हि विस्मृतमर्यादास्मरणं भवति, विनयश्च न फेटितो -नातीतो 'भवति एवं', उपकार्यासेवनेन, एतावत् प्रतिक्रमणं, आचरणया श्रुतदेवतादीनां भवति कायोत्सर्गः आदिशब्दात् क्षेत्रभवनदेवतापरिग्रह इति गाथार्थः ।।४९१।।

भावार्थ : प्रतिक्रमण करने के बाद गुरु के पास बैठने का कारण बताता है। शायद कोई सामाचारी भूल से रह गई हो तो आचार्य भगवंत कहें और उपकारी गुरु के पैर दबाकर सेवा करने से विनय का पालन भी होता है। इसलिए प्रतिक्रमण करने के बाद सभी साधु कुछ देर गुरु के पास बैठें।

इतना प्रतिक्रमण है इतनी प्रतिक्रमण की विधि है। श्रुतदेवता, क्षेत्रदेवता का कायोत्सर्ग आचरणा से होता है।

....

उपरोक्त पाठ में स्पष्ट कहा गया है कि, श्रुतदेवता-क्षेत्रदेवता एवं भवनदेवता का कायोत्सर्ग आचरणा से होता है।

पंचवस्तुक ग्रंथमें प्रतिक्रमण की विधि देखने को मिलती है, इससे श्रुतदेवतादि का कायोत्सर्ग प्रतिक्रमण के अंतमें होता होगा, ऐसा लगता है।

परन्तु कोई ये न कहे कि, वह प्रतिक्रमण के अंत में होता होगा, इसलिए प्रतिक्रमण की विधि में नहीं आता और इसलिए प्रतिक्रमणमें न करें तो भी चले . क्योंकि, पू.आ.भ.श्री हरिभद्रसूरिजी के समय से प्रतिक्रमण में क्षेत्रदेवतादि का कायोत्सर्ग चलता ही है।

प्रतिक्रमण की विधि बदलती रही है।

–पूर्व में पंचांगी में प्रतिक्रमण की प्रारम्भ में चैत्यवंदना नहीं थी। इसका आचरणा से प्रारम्भ हुआ,

–पूर्व में प्रतिक्रमण में '**नमोऽस्तु वर्धमानाय**' की तीन गाथा बोलने से प्रतिक्रमण की पूर्णाहूति होती थी। आचरणा से उसमें स्तवन, प्रायश्चित के लिए चार लोगस्स का कायोत्सर्ग आदि का प्रारम्भ हुआ। (पूर्वमें हम देवसि प्रतिक्रमण की विधि देख चूके हैं।)

–इसी प्रकार पूर्व में (पंचवस्तुक ग्रंथकी रचना से पूर्व) श्रुतदेवता-क्षेत्रदेवतादि का कायोत्सर्ग प्रतिक्रमण के अंत में होगा। पू.आ.भ.श्री हरिभद्रसूरिजी के समय से उसका प्रतिक्रमण में ही प्रारम्भ हुआ।

जैसे त्रिस्तुतिक मतवाले प्रतिक्रमण की विधि में ते ते समय शुरु हुई चैत्यवंदना आदि की नई आचरणाओं को स्वीकार करते हैं और अमल करते हैं, वैसे ही आचरणा से किया जानेवाला क्षेत्रदेवतादि का कायोत्सर्ग व उनकी थोय क्यों नहीं स्वीकार करते? मनचाहा वह स्वीकारा और न चाहा तो नहीं स्वीकारा, यह पूर्वाचार्यों की सेवा नहीं है। परन्तु सामाचारी का विरोधीपन हैं और पू.भद्रबाहुस्वामीजीने सूयगडांग सूत्रकी निर्युक्ति में कहा है कि, जो पूर्वाचार्यों की सुविहित परम्परा का उच्छेदक है, उसका नाश होता है।॥ सुज्ञेषु किं बहुना॥

इस प्रकार श्रुतदेवता-क्षेत्रदेवतादि के कायोत्सर्ग का पू.आ.भ.श्री

हरिभद्रसूरिजी आदि तथा आगे बढकर पूर्वधर महर्षियों ने आचरण किया है, यह सिद्ध होता है और इसलिए हमारे लिए भी आचरणीय है। जो उसकी उपेक्षा करेगा, वह सुविहित परम्परा का लोपक बनेगा। सुविहित परम्परा भी मोक्षमार्ग है और इसलिए अंत में मोक्षमार्ग का लोपक बनेगा।

प्रश्न : शासनदेवता का कायोत्सर्ग किस लिए करना है ? शासनदेवता का कायोत्सर्ग साधु-श्रावक से किया जा सकता है या नहीं ? श्रुतदेवता-क्षेत्रदेवता का कायोत्सर्ग प्रतिदिन क्यों करना है ? पू.भद्रबाहु-स्वामीजीने तो चातुर्मासी आदि में क्षेत्रदेवतादि कायोत्सर्ग करने को कहा है, तो फिर वर्तमानमें प्रतिदिन क्यों किया जाता है ? **ऐसा करने से क्या लाभ होता है ?**

उत्तर : इन सभी प्रश्नों का उत्तर '**जीवानुशासन**' ग्रंथमें मिलता है। '**जीवानुशासन**' ग्रंथके कर्ता सिद्धराज जयसिंह की राजसभामें कुमुदचंद्र दिगबंराचार्य को वाद में जीतनेवाले, ३३ हजार मिथ्यादृष्टियों के घरों को प्रतिबोधित करनेवाले, ८४००० श्लोक प्रमाण स्याद्वाद रत्नाकर ग्रंथ के रचयिता सुविहित शिरोमणि सुविहित चक्र चूड़ामणि श्रीदेवसूरिजी महाराजा हैं। इस ग्रंथ की टीका उत्तराध्ययन सूत्रके वृत्तिकार श्रीनेमिचंद्रसूरिजी ने रची है।

इस 'जीवानुशासन' ग्रंथका पाठ निम्नानुसार है,

तह बंभ संति माइण, केइ वारिंति पूयणाईयं।
तत्त जउ सिरिहरिभद्रसूरिणोणुमयमुत्तं च ॥१०१॥

व्याख्या ॥ तथेति वादांतभणनार्थो ब्रह्मशांत्यादीनां मकारः पूर्ववत् आदिशब्दादंबिकादिग्रहः केऽप्येके वारयंति पूजनादिकमादि-ग्रहणाच्छेषतदौचित्यादिग्रहः तत्पूजादिनिषेधकरणं नेति निषेधे यतो यस्मात् श्रीहरिभद्रसूरेः सिद्धांतादिवृत्तिकर्तृरनुमतमभीष्टं तत्पूजादिविधानं उक्तं च भणितं च पंचाशके इति गाथार्थः ॥ तदेवाह ॥

साहंमिया य एए महड्ढिया सम्मदिट्ठिणो जेण ॥
एतोच्चिय उच्चियं खलु, एएइसिं इत्थ पूयाई ॥

प्रतीतार्था ॥ न केवलं श्रावका एतेषामित्थं कुर्वंति यत योऽपि कायोत्सर्गादिकमेतेषां कुर्वंतीत्याह।

विग्घविघायणहेउं, जइणो वि कुणंति हंदि उस्सग्गं ।
खित्ताइ देवयाए सुयकेवलिणा जउ भणियं ॥ १००१ ॥

व्याख्या । विघ्नविघातनहेतोरुपद्रवविनाशार्थं यतयोऽपि साधवोऽपि न केवलं श्रावकादय इत्यपिशब्दार्थः। कुर्वंति विदधति हंदीति कोमलामंत्रणे उत्सर्गं कायोत्सर्गं क्षेत्रादिदेवताया आदिशब्दाद्-भवनदेवतादिपरिग्रहः श्रुतकेवलिना चतुर्दशपूर्वधारिणा यतो यस्माद्भणितं गदितमिति गाथार्थः। तदेवाह।

चाउम्मासिय वरिसे उस्सग्गो खित्तदेवयाए य ।
पक्खियसेज्जसूराए, करिंति चउमासिए वेगे ॥१००२॥

गतार्था। ननु यदि चतुर्मासिकादिभणितमिदं किमिति सांप्रतं नित्यं क्रियत इत्याह।

संपइ निच्चं कीरइ संनिज्जाभावओ विसिद्धाओ ।
वेयावच्चगराणं, इच्चाइ वि बहुयकालाओ ॥१००३॥ व्याख्या ॥

सांप्रतमधुना नित्यं प्रतिदिवसं क्रियते विधीयते कस्मात् सांनिध्याभावस्तस्य कारणाद्विशिष्टादतिशायिनो वैयावृत्यकराणां प्रतीतानामित्याद्यपि न केवलं कायोत्सर्गादीत्यपेरर्थः। आदिग्रहणात्संति-कराणमित्यादि दृश्यं प्रभूतकालात् बहोरनेहस इति गाथार्थः। इत्थं स्थिते किं कर्त्तव्यमित्याह।

विग्घविघायणहेउं, चेईहररक्खणाय निच्चंवि ।
कुज्जा पुयाईयं, पयाणं धम्मवं किंचि ॥१००४॥

व्याख्या ॥ विघ्नविघातनहेतोरुपसर्गनिवारकत्वेन आत्मनः इति शेषः । चैत्यगृहरक्षणाच्च देवभवनपालनात् नित्यमपि सर्वदा न केवलमेकदेत्यपिशब्दार्थः । कुर्याद् विदध्यात् पूजादिकमादिशब्दा-त्कायोत्सर्गादिका एतेषां बह्मशांत्यादीनां धर्मवान् धार्मिकः ।

अयमभिप्रायः । यदि मोक्षार्थमेतेषां पूजादि क्रियते ततो दुष्टं विघ्नादिवारणार्थं त्वदुष्टं तदति किंचेत्यभ्युच्चय इति गाथार्थः । अभ्युच्चयमेवाह।

मिच्छत्तगुणजुयाणं, निवाइयाणं करेमि पूयाइं ॥

इह लोय कए सम्मत्त गुण जुयाणं नउण मूढा ॥१००५॥

व्याख्या ॥ मिथ्यात्वगुणयुतानां प्रथमगुणस्थानवर्तिनां नृपादीनां नरेश्वरादीनां कुर्वंति पूजादि अभ्यर्चननमस्कारादि इह लोककृते मनुष्यजन्मोपकारार्थं सम्यक्त्वसंयुतानां दर्शनसहितानां ब्रह्मशांत्यादीनामिति शेषः। न पुनर्नैव मूढा अज्ञानिनः इति गाथार्थः ॥

भावार्थ : 'तहबंभसंति' इत्यादि गाथा की व्याख्या । 'तथा' शब्द वादांतर को कहने के लिए है। ब्रह्मशांत्यादि का 'मकार' पूर्ववत् जानें। आदि शब्द से अंबिकादि ग्रहण करना। कुछ लोग उनकी पूजादि का निषेध करते हैं। आदि शब्द से शेष उनका औचित्य ग्रहण करें। उनकी पूजा का निषेध करना योग्य नहीं। क्योंकि, सिद्धांतादि महाशास्त्रों के वृत्तिकार श्रीहरिभद्रसूरिजीको ब्रह्मशांति आदि की पूजा उचितकृत्यके रुपमें स्वीकृत है। उन्होंने श्री पंचाशकजी में इसका कथन किया है। यह गाथार्थ हैं। यह अब कहा जाता है।

'साहम्मिया' इत्यादि गाथा की व्याख्या। **यह जो शासनदेव हैं। वे सम्यग्दृष्टि हैं । महाऋषिमान् हैं । साधर्मिक हैं, इसलिए उनकी पूजा कायोत्सर्गादि उचितकृत्य करना श्रावकों के लिए योग्य हैं। मात्र श्रावकों को ही उनकी पूजादि करना है, ऐसा न समझें, बल्कि संयमी साधु भी उनका कायोत्सर्ग करता है। यह अब बताते हुए कहते हैं कि,**

'विग्घविघायणहेउ।' *इत्यादि गाथा १००१ की व्याख्या।*

विघ्नों का नाश करने के लिए साधु भी क्षेत्रदेवता आदि का कायोत्सर्ग करते हैं। आदि शब्द से भवनदेवतादि को ग्रहण करें। इससे मात्र श्रावकों को ही उनका कायोत्सर्ग करना है ऐसा न समझें। बल्कि साधु भी करते है

। यह अपि शब्द का अर्थ है। क्योंकि, पूर्वोक्त कायोत्सर्ग करना, यह कथन श्रुतकेवली श्री भद्रबाहुस्वामी ने कहा है।

अब वही समझाते हुए कहते हैं कि,

'**चाउम्मासि।**' इत्यादि गाथा १००२की व्याख्या।

चातुर्मासी में, संवत्सरी में क्षेत्रदेवताका कायोत्सर्ग करना और पाक्षिक में भवनदेवता का कायोत्सर्ग करना। कोई एक आचार्य चातुर्मासीमें भी भवनदेवता का कायोत्सर्ग करने को कहता है। **इति गाथार्थः ॥**

पूर्वपक्ष :- चातुर्मासी आदि में क्षेत्रदेवतादि का कायोत्सर्ग करने को श्री भद्रबाहुस्वामीजीने कहा है, तो फिर संप्रतिकालमें=वर्तमानकालमें प्रतिदिन कायोत्सर्ग क्यों किया जाता है?

(इस प्रश्नका उत्तर ग्रंथकारश्रीजी ही देते हैं।)

उत्तरपक्ष : 'संपइ।' इत्यादि गाथा १००३ की व्याख्या।

वर्तमानकालमें नित्य प्रतिदिन जिस देवतादि का कायोत्सर्ग किया जाता है। इसका कारण यह है कि, वर्तमानकालमें उन देवताओं का सांन्निध्याभाव होने से अर्थात् पूर्वकालमें यदा-कदा एक बार कायोत्सर्ग करने से वे देव शासनकी प्रभावना के अवसर पर उपद्रव का नाश करते थे। जबकि वर्तमानकालमें कालदोष से यदा-कदा एक बार कायोत्सर्ग करने से वे देव सांन्निध्य नहीं करते। इसलिए उन्हें प्रतिदिन कायोत्सर्ग करके जागृत करने पर वे सान्निध्य करते हैं। इसलिए नित्य प्रतिदिन कायोत्सर्ग किया जाता है।

ते ते कायोत्सर्ग करने से विशिष्ट अतिशयवान् वैयावृत्यकरादि जो देव हैं वे जागृत होते हैं।

मात्र वैयावृत्त्य करनेवाले प्रसिद्ध देवताका ही कायोत्सर्ग नहीं किया जाता है। बल्कि '**शांतिकराणं०**' इत्यादिक देवताओंका भी कायोत्सर्ग ग्रहण करें तथा प्रभूतकाल से अर्थात् लंबे समय से पूर्वधरों के काल से पूर्वोक्त देवताओं का

प्रतिदिन पूर्वाचार्यो कायोत्सर्ग करते आए हैं। इसलिए पूर्वोक्त देवताओं का नित्य कायोत्सर्ग किया जाता है। **इति गाथार्थः ॥**

इस प्रकार सिद्ध होने के बावजूद पुनः *क्या करना चाहिए*, यह कहतें हैं।

'**विग्घविघायणं**' इत्यादि १००४ गाथा की व्याख्या।

विघ्नविघातके लिए उपसर्गके निवारक होने से तथा श्रीजिनमंदिरकी रक्षा करनेवाले होने से देवभवन का पालन करते होने से नित्य प्रतिदिन इन देवताओं की पूजा करनी चाहिए। अर्थात् दिन-प्रतिदिन इन देवताओं की पूजा करनी चाहिए। अर्थात् दिन-प्रतिदिन इन देवताओं का कायोत्सर्ग करना चाहिए। यहां अभिप्राय यह है कि, यदि कोई इन देवताओं की पूजादि मोक्ष के लिए करे तो वह अयोग्य है। परन्तु विघ्न निवारणादि के लिए करे तो कुछ भी अयोग्य नहीं। उचित प्रवृत्ति रुप होने से पूजा-कायोत्सर्ग करना योग्य ही है।

किंच शब्द अभ्युच्चयार्थक है।

अभ्युच्चय शेष कहने योग्य जो रहता है, वही कहता है।

'**मिच्छत्तगुण।**' इत्यादि गाथा-१००५की व्याख्या।

मिथ्यात्वगुण सहित प्रथम गुणस्थानक में प्रवृत्त जो राजा है, उनकी जो नमस्कारादि पूजा करते थे, तो आलोक के प्रयोजन से करते थे। परन्तु सम्यक्त्व सहित सम्यग्दृष्टि ब्रह्मशांत्यादि देवताओं की पूजा, नमस्कार, कायोत्सर्गादि की जाती है। वह कोई अज्ञानी लोग नहीं करते। यह गाथार्थ है।

....

उपरोक्त जीवानुशासन ग्रंथ के साक्षी पाठ से सभी प्रश्नों के उत्तर मिल जाते हैं। त्रिस्तुतिक मतवालों ने हजारों पूर्वाचार्यों द्वारा आचरित प्रवृत्ति पर उत्पन्न करी हुई सब शंकाओ के समाधान भी मिल जाते हैं। इसलिए सब सत्य का स्वीकार करें यही सिफारिश हैं। पूर्वधरों द्वारा आचरित आचरणा का कोई अनादर न करें यही सिफारिश।

- **पंचाशक प्रकरण में भी १९वें पंचाशक में** सम्यग्दृष्टि देवताओं का

कायोत्सर्ग करने से क्या लाभ होता है। यह बताया गया है। (यह पाठ चतुर्थ स्तुति निर्णय भाग-१ में दिया गया है।)

इस प्रकार.........

(१) प्रतिक्रमण की आद्यंतमें की जानेवाली चैत्यवंदना,

(२) प्रतिक्रमणकी आद्यंतमें की जानेवाली चैत्यवंदना में कथित चतुर्थ स्तुति,

(३) प्रतिक्रमणमें प्रतिदिन होनेवाले श्रुतदेवता-क्षेत्रदेवता के कायोत्सर्ग व उनकी थोय को अनेकविध शास्त्रों का समर्थन मिलता है।

- श्रुतदेवता-क्षेत्रदेवता का कायोत्सर्ग पारकर उनकी स्तुति कहने की विधि देवसि प्रतिक्रमण की विधि (पूर्वमें दर्शाए अनुसार) पूर्वाचार्यकृत गाथा-१५-१६में दर्शायी ही है।

इससे मुनिश्री जयानंदविजयजी ने श्रुतदेवता-क्षेत्रदेवता के कायोत्सर्ग व उनकी स्तुति पर जो सवाल उठाए है, उसका खंडन हो जाता है।

उपरोक्त जीवानुशासन वृत्ति में देव-देवी के कायोत्सर्ग आदि सम्बंधी सभी खुलासे स्पष्ट देखने को मिलते हैं। फिर भी लेखक मुनिश्री जयानंदविजयजी ने '**सत्य की खोज**' पुस्तक के प्रश्न-३४९ के उत्तरमें पृष्ठ-११०,१११,११२ पर कुतर्क करके ग्रंथकार परमर्षि की बात को काटने का प्रयत्न किया है। यह लेखकश्रीकी शास्त्र के प्रति उपेक्षित नीति है। कदाग्रह के कारण शास्त्रकार परमर्षियों की आशातना करने की भी तैयारी है। बात को सीधे तौर पर स्वीकार करने के बजाय वृत्ति (टीका) के कुछ शब्दों को पकडकर पूरी बात को दूसरी पटरी पर चढा दिया है। उनकी पुस्तक में एक ही सुर है कि, देव-देवी की पूजा का विरोध हुआ है और जिसका विरोध हुआ हो वह निर्विकल्प ढंग से स्वीकार नहीं किया जा सकता, जिसका विरोध हुआ हो वह विवादग्रस्त कहलाता है और इसलिए स्वीकार्य नहीं होती। लेखकश्री की यह बात बिल्कुल बेबुनियाद है।

लेखकश्री यदि यह कहते हों कि, विवादास्पद हो वह स्वीकार्य नहीं होता तो उनसे प्रश्न है कि,

- त्रिस्तुतिक मत मिथ्याग्रह से प्रवर्तित हुआ, तब उसका विरोध हुआ था। इसलिए वह मत विवादास्पद है। सौ वर्ष पहले आपके गुरुदेव ने उसका प्रारम्भ किया तब भी उसका जबरदस्त विरोध हुआ था। इसलिए वह विवादास्पद ही है और आपके कथनानुसार ही वह स्वीकार्य नहीं होना चाहिए। तो फिर लोगों से स्वीकार्य बनाने के लिए इतना पुरुषार्थ क्यों करते हो?
- शास्त्रों में पूर्वोत्तर पक्षों की रचना करके अर्थात् पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष की रचना करके उत्तरपक्ष अर्थात् शास्त्रकारश्रीने स्वसिद्धांतको सिद्ध किया होता है। वहां पूर्वपक्ष अर्थात् विरोधपक्ष था। इसलिए उत्तरपक्ष की बात सर्वथा सत्य नहीं मानी जा सकती, ऐसा आप क्यों नहीं कहते हैं?
- **जैनदर्शन ज्ञान को स्वत: प्रकाशक मानता हैं।** नैयायिकों आदिने उसे नहीं स्वीकारा है। तो जैनदर्शन की बात सच्ची या नैयायिकों की बात सच्ची?

यदि जैनदर्शन की बात सच्ची है, ऐसा कहेंगे तो जीवानुशासन वृत्तिकारश्रीने देव-देवी के कायोत्सर्ग आदि सम्बन्धी जो खुलासे दिए हैं। उन्हें त्रिस्तुतिक मत के लेखक मुनिश्री जयानंदविजयजी नहीं स्वीकारते हैं, तो आप किसे सच्चा मानेंगे?

- जीवानुशासन वृत्तिमें 'मोक्ष के लिए देवतादि की पूजा करें तो अयोग्य है और विघ्न निवारणादि के लिए करें तो योग्य हैं।' ऐसा जो कहा गया है उसका रहस्य यह है कि देव-देवी के पास मोक्ष नहीं होने के कारण उनके पास साक्षात् मोक्षकी मांग नहीं की जाती है। परन्तु उनसे जो मांगना है, वह मोक्षांग ही मांगना है। (अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति में सहायक ज्ञानादि अंग ही मांगते हैं।) भौतिक चीजें तो नहीं ही मांगती है।

मोक्षांग की मांग भी परम्परा से तो मोक्षकी ही मांग है। कारण में कार्य के उपचार से मोक्षांग की मांग भी मोक्ष की ही मांग है। यहां जो निषेध है, वह साक्षात् मोक्षकी मांग का है, नहीं की मोक्षांग की मांग का। (इस विषयकी चर्चा विशेष से एक प्रश्न के उत्तर में की है उसे देखने की सिफारिश।)

देव-देवी के पास मोक्ष नहीं होने कारण उनसे साक्षात् मोक्ष की मांग नहीं की जाती है। परन्तु देव-देवी मोक्ष के अंगो को प्राप्त कर चुके हैं और अन्य को मोक्ष के अंग प्रदान करने का उनमें सामर्थ्य भी है। इसलिए मोक्षांग समाधि-बोधि अवश्य मांगी जा सकती है और उसे वे दे भी सकते है।

मोक्षांग की मांग मोक्ष की या कर्मनिर्जरा की विरोधी नहीं है। किन्तु मोक्ष प्राप्ति एवं कर्मनिर्जरा में सहायक है। इसलिए ऐसी मांग के समयमें प्रार्थक की भावधारा भी निर्मल होती है। इसमें भौतिक स्वार्थ न होने के कारण आशय में भी मलीनता नहीं होती। इसलिए वह भावानुष्ठान बनती है।

मुक्ति का साधक मुक्ति की साधनामें उत्पन्न अवरोधकों दूर करने के लिए भौतिक पदार्थों की मांग करे, तो भी वह मांग भौतिक-संसार का अंग नहीं बनती, बल्कि मोक्षांग बनती है।

- वस्तु स्थिति इस प्रकार होने के बावजूद.....

मुनिश्री जयानंदविजयजी पृष्ठ-११२ पर लिखते हैं कि,

"जीवानुशासन वृत्तिमें स्पष्ट शब्दोमें मोक्ष के लिए देव-देवीयों की पूजा का अशुभ कर्म बंध कारक बताया है।"

लेखकश्री की बात असत्य है, यह आगे के पाठ देखने से समझमें आएगा। वहां मोक्ष मांगना अयोग्य बताया गया है। मोक्ष मांगने से अशुभ कर्मबंध होता है ऐसा नहीं कहा गया है।

विशेष में इस ग्रंथ का अवलोकन करनेवाले स्तुतिकारोंने स्वरचित स्तुतियों में देव-देवी से कर्मक्षय तथा मोक्ष मांगा होगा, तब उन्हें इस ग्रंथके

विधान ध्यान में ही होंगें। महापुरुषों की प्रवृत्ति गंभीर आशयवाली होती है।

वर्तमान में तो देव-देवी के पास भी मोक्षकी मांग करने की सिफारिश करने जैसी है। जो लोग श्री जिनेश्वर परमात्मा से भोगसुख मांग आएं ऐसे लोग देव-देवीसे भोगसुख मांगें, इसमें ग्रंथकारों अथवा सुविहित परम्परा को दोष देने जैसा नहीं है। उस जीव की परिणति व जिसकी सन्मार्ग पर ले जाने की जिम्मेदारी है, उनकी 'संसार सुख के लिए भी धर्म हो सकता है।' ऐसी विपरीत प्ररुपणा जिम्मेदार है-दोषरुप है, किन्तु देव-देवी के कायोत्सर्गादिका विधान करनेवाले शास्त्रकार महर्षि जिम्मेदार नहीं।

मुनिश्री जयानंदविजयजीने जीवानुशासन वृत्तिमें जिस बात की गंध भी नहीं, उस बात को उसी ग्रंथ के नाम से प्रचारित करके लोगों को उन्मार्ग पर प्रेरित करने का प्रयत्न किया है।

मुनिश्री पृष्ठ-११२ पर आगें लिखतें हैं कि,

"अब आज के युगके धर्माचार्यो से लेकर सामान्य श्रावक-श्राविका देव-देवियों के चरणों में झुक-झुककर मोक्ष मांग रहे है। समाधि और बोधि मांगना अर्थात् मोक्ष मांगना। समाधि बोधि के बिना मोक्ष मिलता ही नही। देव-देवियों के सामने तीन ढगली और सिद्धशिला करनी अर्थात् मोक्ष मांगना।"

मुनिश्री इसमें क्या संकेत करना चाहते हैं, यह स्पष्ट नहीं होता। वंदित्तासूत्रकी ४७वीं गाथा में सम्यग्दृष्टि देवताओं से समाधि-बोधि मांगने की जो बात की है, वह उन्हें खटकती है। यह जीवानुशासन वृत्तिकी चर्चा करते हुए उन्होंने प्रकट की है।

समाधि-बोधि के बिना मोक्ष नहीं मिलता। इसीलिए समाधि-बोधि मांगनेमें मोक्ष की मांग हो ही जाती है। विघ्नो का निवारण न हो तब तक समाधि प्राप्त नहीं होती। इसलिए विघ्नों का निवारण करने के साथ ही समाधि एवं उसके

फल स्वरुप मोक्ष की मांग हो ही जाती है।

जैसे मुमुक्षु को दीक्षा लेनी हो तो वह गुरु भगवंत से ही मांगता है। अपने माता-पिता से नहीं मांगता। फिर भी माता पिता दीक्षा का मार्ग प्रशस्त कर देते हैं तब ही गुरु भगवंत दीक्षा दे सकते हैं। इसलिए माता-पिता से भी दीक्षा की मांग करके सहमति मांगनी चाहिए और सहमति मिले तब ही गुरु भगवंत से दीक्षा के मुख्य प्रतीक रजोहरण की मांग की जा सकती हैं।

इसी प्रकार ऊपर की बातको समझना है। इसलिए सम्यग्दृष्टि देव-देवीसे समाधि-बोधि, मोक्ष, कर्मक्षय आदि सभी मांगे की जा सकती है।

देव-देवीके समक्ष तीन ढगली व सिद्धशिला करें, खमासमणा देना वह अयोग्य ही है। यह करने के लिए कोई साधु-साध्वी उपदेश नहीं देते हैं। कोई देते हों तो वह गलत है।

प्रश्न : चतुर्थ स्तुति की सिद्धि किस ग्रंथ में की गई है? और किस लिए की गई है?

उत्तर : चतुर्थ स्तुतिकी सिद्धि वादिवेताल पू.आ.भ.श्री शांतिसूरिजी कृत चैत्यवंदन महाभाष्य में गाथा-७७६ से ७८७ तक की गई है। यह निम्नानुसार है।

चैत्यवंदन महाभाष्य में देव-देवी के कायोत्सर्ग तथा उनकी स्तुति की सिद्धि करते हुए कहते हैं कि,

वैयावच्चं जिणगिह-रक्खण-परिट्ठवणाइजिणकिच्चं।
संती पडणीयकओ-वसग्गविनिवारणं भवणे ॥७७६॥

भावार्थ : जिनमंदिर की रक्षा करना, जिनमंदिर की प्रसिद्धि करना (अथवा जिनमंदिर की महिमा बढाना) आदि वैयावृत्त्य हैं। जिनमंदिर में शत्रुओं द्वारा किए जानेवालें उपद्रवों का निवारण करना शांति है। (७७६)

सम्मद्दिट्ठी संघो, तस्स समाही मणोदुहाभावो।
एएसिं करणसीला, सुरवरसाहम्मिया जे उ ॥७७७॥
तेसिं संमाणत्थं, काउस्सग्गं करेमि एत्ताहे।

अन्नत्थूससियाई-पुव्वुत्तागारकरणेणं ॥७७८॥

भावार्थ : संघ सम्यग्दृष्टि है। संघ की समाधि अर्थात् मानसिक दुःखोका अभाव। वैयावृत्त्य, शांति एवं सम्यग्दृष्टि समाधि करने के स्वभाववाले जो साधर्मिक उत्तम देव हैं, उनके सन्मान के लिए अब कायोत्सर्ग करता हूं। यह कायोत्सर्ग उच्छवास के अलावा पूर्वोक्त आगारों को रखकर करता हूं। (१७७-७७८)

एत्थ उ भणेज्ज कोई, अविरइगंधाण ताणमुस्सग्गो।
न हु संगच्छइ अम्हं, सावय-समणेहि कीरंतो ॥७७९॥
गुणहीणवंदणं खलु, न हु जुत्तं सव्वदेसविरयाणं।
भणइ गुरु सच्चमिणं, एत्तो च्चिय एत्थ नहि भणियं ॥७८०॥
वंदण-पूयण-सक्का-रणाइहेउं करेमि उस्सग्गं।
वच्छल्लं पुण जुत्तं, जिणमयजुत्ते, तणुगुणे वि ॥७८१॥

भावार्थ : पूर्वपक्ष : अविरति से अंध देवों को उद्देशित करके श्रावक तथा श्रमण, हम से किया जानेवाला कायोत्सर्ग संगत नहीं-घटता नहीं। सर्वविरतिधर तथा देशविरतिधर गुणहीन को (विरति से रहित को) वंदन करें यह योग्य नहीं।

उत्तरपक्ष : (गुरु) आपकी बात सच्ची है। इसीलिए यहां वंदन-पूजन-सत्कार आदि के लिए कायोत्सर्ग करता हूं, ऐसा नहीं कहा है। बल्कि अल्प गुणवाले भी जिनमत से युक्त (-सम्यग्दृष्टि) जीवमें वात्सल्य करना योग्य ही है।

ते हु पमत्ता पायं, काउस्सग्गेण बोहिया धणियं।
पडिउज्जमंति फूडपा-डिहेरकरणे ददुच्छाहा ॥७८२॥
सुव्वइ सिरिकंतए मणोरमाए तहा सुभद्दाए।
अभयाईणं पि कयं, सन्नेज्झं सासणसुरेहिं ॥७८३॥

भावार्थ : वे देव प्रायः प्रमादवाले होते हैं। कायोत्सर्ग से अत्यंत जागृत किए गए देव उत्साहवाले होकर प्रकट रुप से सान्निध्य करने में उद्यम करते हैं। (७८२)

शास्त्रो में सुना जाता है कि शासनदेवों ने श्रीकांता, मनोरमा, सुभद्रा एवं अभय आदि का सान्निध्य किया था। (प्रकट होकर सहायता की थी।)

संघुस्सग्गा पायं, वड्ढइ सामत्थमिह सुराणं पि।
जह सीमंधरमूले, गमणे माहिलविवायम्मि ॥७८४॥

भावार्थ : शासनदेव को उद्देशित करके संघ द्वारा किए गए कायोत्सर्ग से शासनदेवों का भी सामर्थ्य बढता है। जैसे कि, गोष्ठामाहिल के विवादमें श्रीसीमंधरस्वामी के पास जाने में संघने कायोत्सर्ग किया था और इससे शासनदेवी की शक्ति बढी थी। (७८४)

जक्खाए वा सुव्वइ, सीमंधरसामिपायमूलम्मि।
नयणं देवीए कयं, काउस्सग्गेण सेसाणं ॥७८५॥

भावार्थ : तथा शेष (यक्षा साध्वीजी के अतिरिक्त अन्य) श्रावक आदि द्वारा किए गए कायोत्सर्ग से देवी यक्षा साध्वीजी को श्री सीमंधरस्वामी के पास ले गई, ऐसा शास्त्रमें सुना जाता है। (७८५)

एवमाइकारणेहिं, साहम्मियसुरवराण वच्छल्लं।
पुव्वपुरिसेहिं कीरइ, न वंदणाहेउमुस्सग्गो ॥७८६॥

भावार्थ : इत्यादि कारणों से पूर्वपुरुषों द्वारा साधर्मिक उत्तम देवों का वात्सल्य किया जाता है। वंदन के लिए कायोत्सर्ग नहीं किया जाता है। (७८६)

पुव्वपुरिसाण मग्गे, वच्चंतो नेय चुक्कइ सुमग्गा।
पाउणइ भावसुद्धिं, मुच्चई मिच्छाविगप्पेहिं ॥७८७॥

भावार्थ : पूर्व पुरुषों के मार्ग पर जानेवाला साधक सुमार्ग से भ्रष्ट नहीं होता। गलत विकल्पों से बचता है और भावशुद्धि को प्राप्त करता है।

....

नोट : (१) उपरोक्त चैत्यवंदन महाभाष्य ग्रंथ की गाथाओं में स्पष्ट रुप से देव-देवी के कायोत्सर्ग तथा चतुर्थ स्तुति का समर्थन किया गया है। देववंदनमें 'सिद्धाणं बुद्धाणं' बोलकर वैयावच्चकारी देव-देवी का कायोत्सर्ग करने को

स्पष्ट कहा गया है। गाथा-७८८ में उनकी स्तुति भी बोलने को कहा गया है।

(२) 'चैत्यवंदन महाभाष्य' ग्रंथ के रचयिता (उत्तराध्ययन सूत्रकी बृहद्वृत्ति के रचयिता) श्रीशांतिसूरिजी महाराजा ही हैं। वे सुविहित महापुरुष हैं। उनके ग्रंथ व उनकी टीकाएं जैनशासन में तपागच्छ में सर्व श्री चतुर्विध संघ प्रमाणित मानते हैं। प्रमाणित ग्रंथ की साक्षी स्वीकारनी ही चाहिए।

(३) चैत्यवंदन महाभाष्य में देववंदन की विधि में वैयावच्चगराणं आदि पदों के समझौते में 'चतुर्थ स्तुति'की विहितता एवं उपयोगिता सिद्ध की गई है। देववंदन में चतुर्थ स्तुतिकी सिद्धि से 'देववंदन भावानुष्ठान है, इसमें देव-देवीकी स्तुति नहीं बोलनी चाहिए'-ऐसी त्रिस्तुतिक मत की मान्यता का खंडन हो जाता है।

(४) '**अंधकार से प्रकाश की ओर**' पुस्तक के पृष्ठ-५ पर तथा '**सत्य की खोज**' पुस्तक के पृष्ठ-७० पर प्रश्न-३१३ के उत्तरमें लेखक लिखते हैं कि,

"चैत्यवंदन भाष्य में चतुर्थ स्तुति को सिद्ध करने में आया है, इसका क्या कारण है।

- जिन जिन महापुरुष ने चौथी स्तुतिकी सिद्धि उन्होंने द्रव्यानुष्ठान को लक्ष्यमें रखकर ही की है। कारण कि उस समयमें द्रव्यानुष्ठानों में भी देवस्तुति का निषेध करने वाले होंगे।"

उपरोक्त लेखमें लेखकश्रीने दो बातें की हैं।

(१) ग्रंथकार परमर्षियों ने चतुर्थ स्तुति की सिद्धि द्रव्यानुष्ठान को लक्ष्यमें रखकर की है।

(२) चैत्यवंदन महाभाष्य की रचना हुई होगी, तब चतुर्थ स्तुति का विरोध करनेवाले होंगे। इसीलिए सिद्धि करनी पडती है। (यह बात लेखक परोक्षरुप से कहते हैं।)

उनकी पहली बात 'वदतो व्याघात' है। क्योंकि, अपनी पुस्तक में चैत्यवंदन-देववंदन को भावानुष्ठान कहते हैं और भावानुष्ठान में देवस्तुति का

(चतुर्थस्तुतिका) निषेध किया है।

दूसरी ओर चैत्यवंदन महाभाष्यमें चतुर्थ स्तुति की सिद्धि स्पष्ट दिखाई देती है और प्रश्नकार ने यह बात उपस्थित की है। इसलिए धर्मसंकटमें पडे लेखक अपनी मिथ्या अवसरवादी शास्त्र सापेक्षता को बचाने के लिए तथा प्रश्नकार को चुप करने के लिए अपनी पूर्व की बात से विपरीत बात करते हुए कहते हैं कि, चैत्यवंदन महाभाष्यमें द्रव्यानुष्ठान के संदर्भ में चतुर्थ स्तुति को सिद्ध किया गया है।

यहां स्मरण कराएं कि, चैत्यवंदन महाभाष्यमें वादिवेताल पू.शांतिसूरिजी महाराजा देववंदनकी विधिमें ही चतुर्थ स्तुति को सिद्ध करते हैं। लेखकने तो पूर्व में देववंदन को भावानुष्ठान कहा है और अब प्रश्न के उत्तरमें देववंदन को द्रव्यानुष्ठान स्वरुप बताते हैं। यह स्पष्ट वदतो व्याघात है।

पूर्वमें बताए अनुसार लेखक मुनिश्री जयानंदविजयजी ने अनुष्ठान के जो दो भाग किए हैं, ऐसे भाग करके ग्रंथकार ने द्रव्यानुष्ठान की अपेक्षा से चतुर्थ स्तुतिकी सिद्धि नहीं की, परन्तु लेखक ने अपनी मिथ्या अवसरवादी शास्त्रसापेक्षता को सुरक्षित रखने के लिए ही इस प्रकार का विधान किया है। प्राकृतजन को याद भी नहीं कि, लेखक ने पूर्वमें देववंदन को भावानुष्ठान के रुपमें स्वीकार किया है।

यहां लेखक से प्रश्न यह है कि, प्रतिक्रमण आदिमें आनेवाला देववंदन भावानुष्ठान और प्रतिष्ठा दीक्षा आदि में आनेवाला देववंदन द्रव्यानुष्ठान इस प्रकार के सुविधाजनक विभाग किस शास्त्र वचन के आधार पर किए हैं?

पाठक समझ सकते हैं कि, अपनी बात को किसी भी कीमत पर सिद्ध करने के लिए लेखक ने कुयुक्तियों का सहारा लिया है।

'उस समय विरोध था, इसलिए चैत्यवंदना के दौरान चौथी थोय को सिद्ध करना पडा है तथा विरोध हुआ हो वह बात निर्विकल्प स्वीकार नहीं

की जा सकती।'

लेखक की यह दूसरी बात भी तथ्यहीन है। क्योंकि, परमात्माकी वाणी त्रिकालाबाधित है। इस वाणी में वस्तु जैसी होती है वैसी ही प्ररुपित की जाती है। वस्तु का स्वरुप भी स्वंयसिद्ध है।

शास्त्रकार परमर्षि स्वयंसिद्ध वस्तु को हेय-उपादेय-ज्ञेय के विभागोंमें प्ररुपित करते हैं। उस समय जगतमें पदार्थ के स्वरुप के विषयमें चलनेवाले विवादों का भी निवारण करते हैं। वस्तु जिस स्वरुप में हो उससे विपरीत बताते हुए वादियों का खंडन भी करते हैं। स्वयं जिसका निरुपण करते हैं उसमें कोई वादी विरोध दर्शाए तो उक्ति (आगमवचन) तथा युक्ति से अपनी बात को सिद्ध भी करते हैं और परमात्मा द्वारा प्ररुपित तत्वों को विशुद्ध रखने का कार्य करते हैं। चैत्यवंदन महाभाष्यकारने भी चतुर्थस्तुति की सिद्धि ऐसे ही उद्देश्य से की है। चतुर्थ स्तुति विहित और उपयोगी ही थी। परन्तु वादी उसे मानने को तैयार ही नहीं होता था। इसलिए उक्ति एवं युक्ति से यहां सिद्ध किया है।

लेखक ये कहते हों कि, चतुर्थ स्तुति का विरोध हुआ है इसलिए वह सत्य नहीं कहलाएगी तथा उसे अविच्छिन्न परम्परा नहीं कहा जा सकता और इसलिए उसे निर्विकल्प स्वीकार भी नहीं किया जा सकता तो उनकी यह बात बिल्कुल अयोग्य है। क्योंकि,

- वस्तु की अनंतधर्मात्मकता स्वयंसिद्ध ही है, अर्थात् वस्तु अनंता धर्मों का आश्रय है, यह वास्तविकता स्वयंसिद्ध ही है। परन्तु एकांतवादी अन्य दर्शनकार स्वयंसिद्ध वस्तु की अनंतधर्मात्मकता का विरोध करते हैं। इसीलिए अपने शास्त्रकार परमर्षियो को वस्तुकी अनंतधर्मात्मकता को उक्ति एवं युक्ति से सिद्ध करने की आवश्यकता पडी है।

वस्तु की अनंतधर्मात्मकता का विवाद हुआ था, इसलिए वह स्वीकार्य नहीं, ऐसा तो कोई जैन मतावलंबी नहीं मानता है।

- जैसे भगवान के भावनिक्षेप भाववृद्धि के कारण है, वैसे ही नाम-स्थापना

और द्रव्य निक्षेप भी भाववृद्धि का कारण हैं। यह स्वयंसिद्ध बात है। व्यवहार में भी इसकी प्रतीति होती ही है।

जैसे माता की उपस्थिति भक्ति पैदा कराती थी, वैसे ही माताकी प्रतिकृति भी भक्ति उत्पन्न करती ही है, यह भी स्वयंसिद्ध ही है। इसके बावजूद स्थानकवासी जिनप्रतिमा का विरोध करते थे, इसीलिए पू.महोपाध्याय श्रीयशोविजयजी महाराजाने प्रतिमाशतक में इसकी सिद्धि की है। विरोध था और उसकी सिद्धि की है, इसलिए जिनप्रतिमा अस्वीकृत नहीं हो जाती।

ऐसे तो अनेक दृष्टांत हैं। सुज्ञजन स्वयं विचार कर सकते हैं।

- 'तीर्थकोटराजी या अनुचित लेख का समुचित उत्तरदान पत्र' इस पुस्तकमें लिखा है कि,

सामायिक पौषध रहित श्रावक देववंदन करे उस में चोथी थुई कहने का दोष नहीं.''

यह बात भी उनकी परस्पर विरोधी है। क्योंकि, एक तरफ वे कहते हैं कि, भावपूजामें चतुर्थस्तुति कहने से भावपूजा खंडित हो जाती है और दूसरी ओर सामायिक पौषध के बिना मंदिरादि में देववंदन स्वरुप स्तुतिपूजामें चतुर्थस्तुति का उपदेश देते हैं।

बड़े आश्चर्य की बात है। क्या स्तुतिपूजा भावपूजा नहीं ? यदि भावपूजा है तो चतुर्थ स्तुति से उसका खंडन हो जाएगा कि नहीं ?

स्तुति भी सामायिक प्रतिक्रमणकी तरह भावपूजा कही गई है। चैत्यवंदन महाभाष्यकी वृत्ति इस बातको निम्नानुसार बताती है....

''अथ तृतीया भावपूजा, सा च स्तुतिभिर्लोकोत्तरसद्भूततीर्थकरगुणगणवर्णन पराभिर्वाक्पद्धतिभिर्भवति, आह च,

तइया उ भावपूजा ठाउं चियवंदणोचिए देसे ।
जहसत्ति चित्तथुइथुत्त-माइणे देववंदणयं ति ।।''

भावार्थ : अब दूसरी भावपूजा बताई गई है। यह तीर्थंकरों के सद्भूत लोकोत्तर गुणोंका वर्णन करनेवाली वचनरचना स्वरुप स्तुतियों से होती है। अन्य स्थल पर कहा गया है कि, 'चैत्यवंदन करने योग्य स्थानमें खडे रहकर अनेक प्रकार की स्तुतियों से देववंदन करना, इसका नाम भावपूजा है। (यह पूजा का तीसरा भेद है।)

....

उपरोक्त पाठ से सिद्ध होता है कि, सामायिक, प्रतिक्रमण, पौषध हो अथवा न हो केवल देववंदन भी भावपूजा है। इसलिए लेखकश्रीकी उपरोक्त बात असत्य है।

यहां पाठक विचार कर सकतें है कि, ग्रंथकार परमर्षियों के टंकशाली वचनों से बचने के लिए त्रिस्तुतिक मक के लेखक कैसी उल्टी-सुल्टी बातें करते हैं। इन पर विश्वास करें या न करें यह पाठक स्वयं विचार करें।

प्रश्न : सामायिक लेने से पहले इर्यावही करने की विधि है कि सामायिक लेने के बाद इरियावही करने की विधि है?

उत्तर : महानिशीथ सूत्रमें स्पष्ट कहा गया है कि, इरियावही प्रतिक्रमणके बिना सामायिक आदि किसी भी धर्मक्रिया करनी उचित-युक्ति संगत नहीं है।

प्रश्न : आवश्यक चूर्णिमें आपके कथन से बिल्कुल अलग कहा गया है, तो सच किसे मानें?

उत्तर : इस प्रश्न का उत्तर सेन प्रश्नोत्तरकार पू.आ.भ.श्री सेनसूरिजी महाराज के शब्दों में ही देखें।

पू.आ.भ.श्री सेनसूरिजी म. प्रश्न-१४० के उत्तरमें कहते हैं कि,

"तथा सामायिकाधिकारे पूर्वमीर्यापथिकीप्रतिक्रमणं शास्त्रानुसार्युत पश्चादिति प्रश्नोऽत्रोत्तरं ॥ सामायिकाधिकारे महानिशीथ-हारिभद्रियदशवैकालिकबृहदवृत्याद्यनुसारेण युक्त्यनुसारेण सुविहितपरंपरानुसारेण च पूर्वमीर्यापथिकी प्रतिक्रमणं युक्तिमत्प्रति-

भाति यद्यप्यावश्यकचूर्णौ पच्छा इरिआवहीअए पडिक्कमइ इत्युक्तमस्ति परं तत्र साधुसमीपे सामायिककरणानंतरं चैत्यवंदनमपि प्रोक्तमस्ति ततः इर्यापथिकीप्रतिक्रमणं सामायिकसंबंधमेवेति कथं निश्चीयते तेन चूर्णिगत सामायिककरणसामाचारी सम्यक्तया नावगम्यते तदपि योगशास्त्रवृत्तिश्राद्धदिनकृत्यवृत्यादौ पश्चादीर्यापथिकीप्रतिक्रमणं निर्णीतं कथं भवतीति ॥

भावानुवाद : (प्रश्नः-) सामायिक के अधिकारमें प्रथम 'इरियावहिया' करके 'करेमि भंते' की पट्टी (पाठ) कहना शास्त्रानुसार युक्त है कि प्रथम 'करेमिभंते' और बादमें इरियावही करना युक्त है ?

उत्तर : सामायिक के अधिकारमें महानिशीथ, श्री हरिभद्रसूरिजी कृत दशवैकालिक सूत्र की बृहद्वृत्ति आदि के अनुसार तथा युक्ति अनुसार व सुविहित परम्परानुसार तो प्रथम इरियावही करना युक्त लगता है।

यद्यपि आवश्यक चूर्णिमें इरियावही बादमें करने को कहा हैं। परन्तु यहां साधु के पास सामायिक करने के बाद चैत्यवंदन भी करने को कहा गया है। इसलिए इरियापथिकी प्रतिक्रमण का सम्बंध सामायिक के साथ ही है। ऐसा कैसे जाना जा सकता है ? इसलिए चूर्णिगत सामायिक करने की सामाचारी सम्यक्तया दिखाई नहीं देती। (अर्थात् चूर्णिमें से समायिक की सामाचारी अच्छी तरह से नहीं समझी जा सकती।)

यद्यपि योगशास्त्रवृत्ति, श्राद्धदिनकृत्य वृत्ति आदि में ('करेमिभंते' का उच्चारण कराने के बाद) '**इरियावही**' करने को कहा गया है, यह लेख भी चूर्णि के आधार पर है-चूर्णि पर आधारित है। इसलिए इन ग्रंथों से भी 'इरियावही' के बादमें करना, यह निर्णय कैसे हो सकता है ?

इसलिए महानिशीथ आदि ग्रंथोके आधार पर प्रथम ही इरियावही प्रतिक्रमण करें।

प्रश्न : किन शास्त्रों में पहले 'इर्यापथिकी' और बादमें 'करेमिभंते'

का उच्चारण करने को कहा गया है?

उत्तर : श्री तपागच्छीय गणिवर्य श्रीरुपविजयजी म. स्वरचित प्रश्नोत्तर में इस प्रकार लिखते हैं...

तथा च तत्पाठः ॥ जैनागमवचः श्रुत्वा नत्वा सद्गुरुपत्कजं इर्यापथिकचर्चारुं वक्ष्ये सन्मार्गदीपिका ॥१॥

-जो आत्मार्थी जीव हो, उसे पंचांगी के अनुसार सामायिकादि क्रिया करनी चाहिए। इस पंचांगी के नाम हैं, (१) सूत्र, (२) निर्युक्ति, (३) भाष्य, (४) चूर्णि तथा (५) वृत्ति।

इसके अलावा सुविहित आचार्यकृत ग्रंथ के अनुसार जो भव्य जीव क्रिया करें, वे जिनमार्ग के आराधक होते हैं। वर्तमान में कलिकालके दूषण से अपने अपने गच्छ के कदाग्रहो को लेकर, सूत्र का लोप करके कदाग्रह करके श्रावक को विपरीत मार्ग पर चलाते हैं। उनसे कहते हैं कि, सामायिक दंडक का उच्चारण करके इरियावही प्रतिक्रमण करें, किन्तु सुविहित गच्छ की विधि सूत्र के अनुसार इर्यावही प्रतिक्रमण करके सम्पूर्ण प्रतिक्रमणादि, पौषध, सामायिक, सज्झायादि क्रिया करनी चाहिए, लेकिन इर्यावही प्रतिक्रमण के बिना प्रतिक्रमणादि सामायिक करना आगम विरोधी है।

इसके आधार के लिए श्री महानिशीथ सूत्रकी साक्षी लिखी है।

॥ तथाहि ॥ से भयवं जहुत्तविण उवहाणेण पंचमंगलं महासुअक्खं धमहिज्झित्ताणं पुव्वाणुपुव्वीए पच्छाणुपुव्वीए अणाणुपुव्वीए सरवंजणमत्ता बिंदुपयाक्खरविसुद्धथिरपरिचियं काउण महतापबंधेणं सुत्तत्थं च विण्णाय तओणं किं महिज्जेज्जा गोयमा इरियावहियं से भयवं केणंअट्ठेण एवंवुच्चइ जयाणं पंचमंगलं महासुअक्खं धमहिज्जित्ताणं पुणो इरियावहिअं अहीए गोयमा जे एस आयागमणागमणाइ परिणइ अणेगजीवपाणभूअसत्ताणं अणोवउत्त-पमत्ते संघट्टण अवद्दावणकिलामणं काउणं अणालोइअ अपडिक्कंते

चेवगमणाइ अणेग अण्णवावार परिणामासत्तचित्तयाए केइपाणीतमेव भावंतरमच्छद्दिअ अट्टदुहट्टइज्जवसिए किंचिकालंखणं विरत्तेताहे । तस्सफलेणं विसंवएज्जा जयाउणं कहिंचीअण्णाण मोहमाया दोसेणं एगिंदि आदीणं संघट्टं परिआवणं वाकयं हवेज्जातयाय पच्छा हाहाहा दुट्ठुकयमम्मोहित्ति घणरागदोसमोहमिच्छत्तणाणंधेहिं अदिट्ठपरलोग पच्चवाएहिं कुरकम्मनिग्घिणेहिं परमसंवेगमावणे सुपरिफूडं आलोइत्ताणं निंदित्ताणं गरहित्ताणं पायच्छित्तमणुचरित्ताणं निस्सल्लेअणा -उलचित्ते असुभकम्मक्खयट्ठा किंचि आयहिअ चिइवंदणाइ अणुट्ठेज्जा तयातयट्ठेचेव उवउत्तेसे हवेज्जाजयातस्सणं परमेगग्गचित्तसमाहि हवेज्जा तयाचेव सव्वजगजीव-पाणभूअसत्ताणं अहिट्ठफलसंपत्ती हवेज्जा ता गोयमा अपडिक्कंताए इरियावहिआए नकप्पईचेवकाउं किंचिवि चिइवंदणसज्झायज्झाणाई अफलासायमभि -कंखुगणएएणं अट्ठेणं गोयमा एवं वुच्चइ जहाणं गोयमा ससुतत्थोभय पंचमंगलं थिरपरिचियं काउणं तओ इरियावहिअं अज्झाए से भयवं कयराए विहिए तमिरियावहिअमहीए गोयमा जहाणं पंचमंगलमहासु- अक्खंधंति । इति महानिशीथ तृतीयाध्ययने ॥

यहां श्री महानिशीथ सूत्रके तीसरे अध्ययन में लिखा गया हैं कि, जब किसी जीवने अर्थात् दो इन्द्रिय, त्रिइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय अथवा पंचेन्द्रिय प्राणीने भूत अर्थात् वनस्पतिकाय या सत्त्व अर्थात् पृथ्वी आदि चार स्थावर जीवों की संघट्टना कर उन्हें कष्ट पहुंचाया हो, उसका मनमें पश्चात्ताप उत्पन्न हुआ हो कि, हां ! हां ! हां ! मैंने बहुत ही दुष्ट काम किया है, अतिशय राग, द्वेष, मोह, मिथ्यात्व, अज्ञान से अंध होकर परलोक के कष्टों का विचार किए बिना निर्दयता से क्रूर कर्म किए हैं। अब कैसे इन पापों से मुक्त होऊंगा, इस प्रकार परमवैराग्य के रंगमें रंगते हुए पाप की आलोचना, निंदा, गर्हा, प्रायश्चित, शल्यरहित होकर, चित्त को समाधि में स्थापित करके अशुभकर्मों का क्षय करने के लिए आत्मा का हित

करनेवाली करनी करे । अर्थात् चैत्यवंदना आदि करके समग्र सामायिक प्रतिक्रमण, पोषह प्रमुख करनी करे, उस समय उस करनी के उपयोग के विषयमें सावधानी बरते अर्थात् करनी के उपयोगपूर्वक सावधानी से साधक क्रिया करता है।

इस प्रकार करने से प्राणी के मनकी एकाग्रता होती है, चित्त की समाधि होती है और इससे जगत के जीवों के (जीव अर्थात् पूर्वमें बताए गए प्राणी, भूत और सत्त्व आदि सभी जीवों के) अभिष्ट फल की प्राप्ति होती है। (इसलिए कहा गया है कि, समस्त जगत के जीवों से समभाव से बरतें, इसे ही सामायिक कहते हैं।)

(यदुक्तं श्रीआवश्यकनिर्युक्तौ ॥

समो जो सव्वभूयेसु तसेसु थावरेसु य तस्स सामाइयं होइ इइ केवली भासियं ॥१॥)

इस कारण गौतम ! इरियावहिया प्रतिक्रमण के बिना किसी भी धर्मक्रिया करनी संगत नहीं होती है।

देववंदन आठ स्तुति से करें तथा प्रथम पोरसी से सूत्रपाठ करें इसे ही सज्झाय कहा जाता है तथा दूसरी पोरसी में अर्थचिंतन करें, यह ध्यान कहलाता है।

इसलिए धर्मक्रिया के फल के स्वाद लेनेकी इच्छावाले जीव को (साधकको) इरियावहिया प्रतिक्रमण करके धर्मक्रिया करनी चाहिए । इसके बिना कोई फल नहीं मिलता।

....

इसलिए ऐसा कहा गया है कि, इरियावही प्रतिक्रमण के बिना जो सामायिक किया जाता है वह बांझ सामायिक होता है। यह सामायिकादि करनी सूत्रानुसार इरियावही प्रतिक्रमण करके ही करनी चाहिए तथा महानिशीथ सूत्र छह छेद सूत्र के मध्य में है।

यदि कोई श्री निशीथसूत्रके वचन को सामान्य कहे और चूर्णि के वचन को विशेष कहे तो यह बिल्कुल उचित नहीं। क्योंकि, महानिशीथ सूत्र पू.गणधर भगवंत द्वारा विरचित है।

....

- १४४४ ग्रंथ के रचयिता, सुविहित गच्छ धोरी पू.आ.भ.श्री हरिभद्रसूरिजी म. द्वारा विरचित श्रीदशवैकालिक सूत्र की बृहद्वृत्तिमें लिखते हैं कि,...... इरियावही प्रतिक्रमण के बिना कोई क्रिया नहीं करनी चाहिए तथा इरियावही प्रतिक्रमण के बिना क्रिया करेंगे तो वह अशुद्ध होगी। यह पाठ इस प्रकार है।

"ईर्यापथप्रतिक्रमणमकृत्वा नान्यत्किमपि कुर्यात्तदशुद्धतापत्तेः ।।" इति दशवैकालिकवृत्तौ हारिभद्र्यां ।।२।।

- श्री भगवती सूत्रके १२ वें शतक के प्रथम उद्देशा में पुक्खली श्रावक के लिए इरियावही प्रतिक्रमण करके श्रमणोपासक शंख को वंदन, नमस्कार करने के लिए कहा गया है। यह सूत्रपाठ इस प्रकार है।

"ततेणं पोक्खली समणोवासए जेणेव पोसहसाला जेणेव संखे समणोवासए तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता गमणागमणे पडिक्कमति र त्ता संखं समणोवासगं वंदति णमंसती"

इस सूत्रमें कहा गया है कि, जो श्रमणोपासक संख पोषध में था उससे बात करनी थी। वह भी पुक्खली श्रावकने 'इरियावही' प्रतिक्रमण करके की, ऐसा भगवती सूत्रमें कहा गया है। तो फिर सामायिक तो मुनिराजत्व का पकवान है। इसकी क्रिया तो विरति स्वरुप प्रासादकी पीठिका समान 'इरियावही' प्रतिक्रमण के बिना सामायिक शुद्ध हो ही नहीं सकता।

भगवती सूत्र के इस पद की टीका श्री अभयदेवसूरिजीने लिखी है, जो इस प्रकार है-

"ततेणं पोक्खली समणोवासए जेणेव पोसहसाला जेणेव संखे

समणोवासए तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता गमणागमणे पडिक्कमति र त्ता संखं समणोवासगं वंदति णमंसती''

- श्रीधर्मघोषसूरिजी कृत संघाचार भाष्यमें भी कहा गया है कि, पुक्खली श्रावक की कथा सुनकर 'इरियावही' प्रतिक्रमण करके ही सामायिक करना चाहिए।

॥ यदुक्तं ॥ श्रुत्वैवमल्पमपि पुष्कलिनानुचीर्णमीर्या-प्रतिक्रमणतः किल धर्मकृत्यं सामायिकादि विदधीत ततः प्रभूतं तत्पूर्वमत्र च पदावनिमार्ज्जनं त्रिः ॥१॥

भावार्थ : पुक्खली श्रावक ने अल्प धर्मकार्य किया, साधर्मिक वात्सल्यमें आमंत्रण देने के लिए। यह अल्प धर्मकार्य भी 'इरियावही' प्रतिक्रमण करके शंख नामक श्रमणोपासक को कहा। इसलिए सामायिक विशेष करनी तो 'इरियावही' प्रतिक्रमणादि के बाद ही करनी चाहिए, तीन बार भूमि प्रमार्जित करके करनी चाहिए।

यह संघाचारवृत्ति का भावार्थ है।

- पू.आ.भ.श्री हरिभद्रसूरिजीकृत पंचाशक ग्रंथकी चूर्णिमें प्राभातिक (सुबह) सामायिक करने के अधिकार में प्रथम 'इरियावही' प्रतिक्रमण करके सामायिक का पाठ करने की विधि बताई गई है। यह पाठ इस प्रकार है।

''तओ राइए चरमजामे उट्ठिउण इरियावहियं पडिक्कमिय पुव्विं च पोत्तिपेहिय नमोक्कारपुव्वं सामाइयसुत्तं कड्ढिय संदिसाविय सज्झायं कुणइ''

भावार्थ : इसके बाद रात्रि के चौथे प्रहरमें उठकर 'इरियावही' प्रतिक्रमण करने के पश्चात् प्रथम मुहपत्ति पडिलेहणा करके एक नवकार का जाप करें और इस प्रकार सामायिक दंडक का उच्चरण कराएं। तत्पश्चात् संदिसाविय कहकर बेसणा संदीसामि बेसणा ठाएमि कहकर स्वाध्याय करें।

- **पू.आ.भ.श्री जिनवल्लभसूरिजीने पौषध विधि** प्रकरणमें लिखा है कि, रात्रि का पौषध किया हो तो पिछली रात उठकर प्रथम 'इरियावही' प्रतिक्रमण करके चार नवकार का कायोत्सर्ग करके ऊपर लोगस्स कहकर मुहपत्ति पडिलेहणा तथा नवकार जाप करके सामायिक करें।

यहां मध्यस्थ भाव से विचार करें कि पौषध में तो विरति है, फिर भी श्री जिनवल्लभसूरिजीने इरियावही प्रतिक्रमण के बाद सामायिक लेने को कहा है। तो फिर गृहस्थ तो चंचल योग का धनी है। इसीलिए वह 'इरियावही' प्रतिक्रमण के बिना सामायिक करे तो सामायिक शुद्ध नहीं होता।

जैसे स्नान करके ही पूजा करने का प्रचलन है और पूजा करके स्नान करने का काम कोई नहीं करता। वैसे ही इरियावही पापनाशक है, भावना जल है, इससे शुद्ध होकर सामायिक में प्रवृत्त हों तो ही सामायिक शुद्ध होता है। 'इरियावही' प्रतिक्रमण के बिना सामायिक शुद्ध नहीं होता।

श्रीमहानिशीथ सूत्रमें कहे अनुसार सभी क्रियाएं 'इरियावही' प्रतिक्रमण के बाद ही करनी चाहिए। प्रतिपक्ष के लोग इससे विपरीत प्रथम सामायिक दंडक का उच्चरण करवाकर इरियावही 'प्रतिक्रमण' करते हैं, उनसे प्रश्न है कि,

- पहले सामायिक दंडक उच्चारण कराने से पूर्व में 'इरियावही' प्रतिक्रमण करने से क्या दोष लगता है ? तथा
- आप (प्रथम) सामायिक लेते हैं, (इससे) सावद्ययोग से निवृत्त हुए हैं, अब इरियावहि प्रतिक्रमण करने से क्या अधिक करते हैं ?
- आप पोषह लेने से पहले 'इरियावही' प्रतिक्रमण करते हैं ? तथा
- साधु (आप के साधु) प्रतिक्रमण करने से पहले क्यों 'इरियावही' प्रतिक्रमण करते हैं ? और श्रावक (आपके श्रावक) क्यों प्रतिक्रमण नहीं करते ?

इन प्रश्नो का जवाब शास्त्राधार से देने चाहिए।

उपरोक्त शास्त्रपाठों में स्पष्ट कहा गया है कि, प्रथम इरियावही प्रतिक्रमण, बाद में ही सामायिक दंडक का उच्चारण कराएं। इसके बावजूद कदाग्रह के वश मुनि श्री जयानंदविजयजी ने अपनी दोनों पुस्तकों में अनेक कुतर्क करके शास्त्रकार परमर्षियों की बातों को तोड़ने मरोड़ने का विफल प्रयास किया है। यह पाठक उनकी '**अधंकार से प्रकाश की ओर**' पुस्तक के पृष्ठ-३२,३३,३४,३५ व ३६ पर तथा '**सत्य की खोज**' (नूतन संस्करण) पुस्तक के पृष्ठ-९२ से ९६ पर देख सकते हैं।

- मुनि श्रीजयानंदविजयजी हीरप्रश्नोत्तर के नाम से पू.आ.भ.श्री विजय हीरसूरीश्वरजी महाराजा को इस विषयमें अपने पक्षमें खडा करते हुए 'अंधकार से प्रकाश की ओर' पुस्तक के पृष्ठ-३३ पर लिखते हैं कि,

जिन मंदिर में इरियावही पडिक्कम पूर्वक्त चैत्यवंदन करने के विषयमें एकान्त नही है ऐसा लगता है।

मुनिश्री यहां स्वयं भूलभूलैया में पड़ गए हैं और दूसरों को भ्रम में डाल रहे हैं। क्योंकि,

- पू.आ.भ.श्री विजय हीरसूरिजी ने प्रवचन सारोद्धार वृत्तिके पाठ के आधार पर जघन्य तथा मध्यम चैत्यवंदना के लिए जो विधान किया है, वह मुनिश्रीने सभी क्रियाओं के लिए लागू किया है। इसलिए मुनिश्री की शास्त्र-अनभिज्ञता स्वयं प्रकट हो जाती है।

प्रवचन सारोद्धारवृत्तिमें कहा गया है कि.....

"उत्कृष्ट चैत्यवंदना ऐर्यापथिकी प्रतिक्रमणपूर्विकैव भवति, जघन्य-मध्यमे तु चैत्यवन्दने ऐर्यापथिकीप्रतिक्रमणमन्तरेणापि भवतीति।"

-उत्कृष्ट चैत्यवंदना इरियापथिकी प्रतिक्रमण पूर्वक ही होती है। परन्तु

जघन्य तथा मध्यम चैत्यवंदना इर्यावही किए बिना भी होती है।

इसलिए हीरप्रश्न के नाम से मुनिश्री ने जो बात की है, वह असत्य है।

- हीरप्रश्न में चैत्यवंदना के बाद इर्यावही करना कहीं भी नहीं लिखा है। फिर भी मुनिश्री ने अन्य अर्थमें बताई गई बात को अपने मत की पुष्टि के लिए जोड दिया है। उन्मार्ग पर जानेवालों की यही स्थिति होती है।
- जो श्रावक घरमें सामायिक लेकर उपाश्रयमें साधु के पास आता है, वह पहले साधु भगवंत से सामायिक दंडक का उच्चारण कराता है और फिर मार्गमें हुई विराधना को टालने के लिए इरियावही करके स्वाध्यायमें बैठता हैं। यह विधि घर में सामायिक करनेवाले के लिए है और पू.आ.भ.श्री देवगुप्तसूरिजी कृत नवपद प्रकरण आदिमें इस बारे में जो बात की गई है, वह इसी परिप्रेक्ष्यमें की गई है।

यहां भी याद रखना चाहिए कि, घरमें सामायिक लेनेवाला श्रावक भी प्रथम इरियावही प्रतिक्रमण करे और बादमें ही सामायिक दंडक (स्वयं) उच्चारण करे। **इस प्रकार त्रिस्तुतिक मतकी मान्यता असत्य है।**

प्रश्न : क्या आगमिक मत को ही त्रिस्तुतिक मत कहा जाता है?

उत्तर : हां, प्रवचन परीक्षा ग्रंथमें आगमिक मत को ही त्रिस्तुतिक मतके रुप में बताया गया है। एक ही मत के दो अलग-अलग नाम हैं। ये दोनो मत अलग अलग नहीं है।

प्रश्न : वर्तमानमें त्रिस्तुतिक मतवाले स्वयं को आगमिक मतके रुपमें क्यों नहीं दर्शाते हैं?

उत्तर : इस बारेमें त्रिस्तुतिकवालों का अभ्यंतर आशय ऐसा लगता हैं कि, प्रवचन परीक्षा ग्रंथमें आगमिक मत शासनबाह्य-शास्त्रविरोधी मत के रुपमें दर्शाया गया है। इसलिए अपने मतको जगतमें शास्त्रविरोधी मत घोषित होने से बचाने की अंतरंग भावना से वे अपने मत को आगमिक मतके रुपमें दर्शाने से बचते हैं।

दूसरा कारण यह लगता है कि, तत्कालीन आगमिक मत तपागच्छ की एक-दो मान्यता से अलग था, जबकि वर्तमान त्रिस्तुतिक मतवालोनें अपने मत की पुष्टि करने के लिए जो सुधार किए हैं, वे सुधार तपागच्छकी कई सुविहित मान्यताओं-आचरणाओं से अनेक प्रकार से अलग पडते हैं। इसलिए यदि आगमिक मत के रुपमें अपने मत को दर्शाएं तो अपने मत की पुष्टि के लिए स्वीकारी अन्य झूठी मान्यताओं के सामने कई प्रश्न खडे हो सकते हैं और वे मान्यताएं स्वयमेव शास्त्रविरोधी सिद्ध हो जाएंगी। इसी प्रकारके भय से अपने मत को आगमिक मतसे अलग दर्शाते हैं।

इसलिए त्रिस्तुतिक मतने शास्त्रविरोधी और जैनशासन के इतिहास से विरुद्ध अपनी पहचान जगतमें प्रस्थापित की है। यह पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

प्रश्न : आगमिक मतकी उत्पत्ति कब हुई और इस मतकी उत्पत्तिका इतिहास क्या है ? तथा आगमिक मत ही त्रिस्तुतिक मत कहलाता था, इसके लिए आपके पास प्रमाण क्या हैं ?

उत्तर : इन सभी प्रश्नो के उत्तर प्रवचन परीक्षा ग्रंथ में देखने को मिलते हैं। प्रवचन परीक्षा ग्रंथके सातवें विश्राम में आगमिक मत का निरुपण करते हुए कहा गया हैं कि,

अथ क्रमप्राप्तं त्रिस्तुतिकापरनामागमिकमतमाह-

अह आगमिअं कुमयं पायं थणिउव्व सव्वलोअमयं ।
पंचासुत्तरबारससएहिं वरिसेहिं विक्कमओ ॥१॥
सीलगण देवभद्दा नामेणं निग्गया य पुण्णिमओ ।
पल्लवपक्खे पत्ता तत्तोऽविअ निग्गया समए ॥२॥
सत्तुंजयस्य पासे मिलिआ सत्तट्ठ वुड्ढगणमुणिणो ।
गणनिग्गया य तेसिं सव्वेहि वि मिलिअ दुज्झायं ॥३॥

भावार्थ : अब क्रम प्राप्त त्रिस्तुतिक जिसका दूसरा नाम आगमिक मत हैं, उसे कहते हैं-

'अब प्राय: स्तनिक (अंचल) मतकी तरह सर्वलोक में कुमत के रुपमें प्रसिद्ध आगमिक मतका निरुपण किया जाता है। **यह आगमिक मत वि.सं. १२५०में प्रारम्भ हुआ।** (आगमिक मतकी उत्पत्ति किसने की यह अब बताते हैं।) शीलगण व देवभद्र नामक दो साधु कुमत पूर्णिमा गच्छसे निकलकर अंचलगच्छ में गए। इस गच्छमें अध्ययन करके उन्होंने आचार्यपद प्राप्त किया। इसके बाद अंचलगच्छ से निकलकर शत्रुंजय तीर्थ परिसर के निकट आए। यहां उन्हें बृहद्गण के मुनि अथवा सात-आठ गण से अलग हुए मुनि मिले। **इन सभी साधुओं ने मिलकर शास्त्रविरोधी विचार किया।** (इस बारे में टीका में खुलासा किया गया है।) **उन्होंने विचार किया कि, हम नवीन मतकी प्ररुपणा करे तो अच्छा। उस समय ऐसा विचार करके, श्रुतदेवता-क्षेत्रदेवता आदि की 'सुयदेवया भगवई' इत्यादि स्तुतियों का निषेध करें।'** इस प्रकार उन्होंने नवीन मत प्रारम्भ किया। **उन्होने जिस प्रकार दुष्ट विचार किया वैसा ही लोगों के समक्ष प्रचारित किया।** इस विषयमें जो युक्तियां दी हैं, वे गाथा-५में बताई गई हैं।

....

नोट : उपरोक्त प्रवचन परीक्षा ग्रंथके पाठ से स्पष्ट फलित होता है कि,

- त्रिस्तुतिक मत का नाम ही आगमिक मत है और ग्रंथकार ने इस मत को शासनबाह्य बताया है।
- कुमत आगमिक मतकी उत्पति वि.सं. १२५०में हुई है। अर्थात् वह कुमत है। आगमिक मत (त्रिस्तुतिकमत) के सर्जनकर्ता साधुओंने दुष्ट विचार किया है, ऐसा शास्त्रकार ने स्पष्ट कहा है। इस प्रकार उनका मत शास्त्रविरोधी ही है।
- त्रिस्तुतिक मतकी उत्पत्ति करनेवाले साधु भूतकालमें भी कुमतों में ही थे, यह भी स्पष्ट देखने को मिलता है।

प्रश्न : आगमिक मतकी उत्पत्ति करनेवाले साधुओं ने श्रुतदेवता-

क्षेत्रदेवता की स्तुति का निषेध करते समय कौन-कौन सी युक्तियां प्रस्तुत की हैं?

उत्तर : आगमिक अर्थात् त्रिस्तुतिक मत की उत्पत्ति करनेवाले साधुओंने जो युक्तियां प्रस्तुत की हैं, उनकी नोट प्रवचन परीक्षा ग्रंथ में गाथा-५ में दर्शायी गई है जो निम्नानुसार है.....

तित्थयरो असमत्थो जेसुवि कज्जेसु तेसु को अण्णो ।
किं हुज्जावि समत्थो ? ता कह सुअदेवयवराई ? ॥५॥

भावार्थ : जो कार्य करने में स्वयं तीर्थंकर परमात्मा असमर्थ हों, वे कार्य करने में अन्य कौन समर्थ हो सकता है ? (नहीं ही हो सकता) तो फिर बेचारी श्रुतदेवी क्या करें। (इसलिए ज्ञानादि की प्राप्ति के लिए श्रुतदेवी से की जानेवाली प्रार्थना निरर्थक है।)

प्रश्न : आगमिक मत द्वारा उपर जो युक्ति प्रस्तुत की गई है, उसका प्रवचन परीक्षामें प्रतिकार किया गया है या नहीं ?

उत्तर : हां, उपरोक्त युक्ति का प्रवचन परीक्षामें गाथा-६में युक्ति एवं उदाहरणों से प्रतिकार किया गया है, जो इस प्रकार है।

इच्चाइअजुत्तीहिं मूढो मूढाण चक्कवट्टिसमो ।
न मुणइ वत्थुसहावं दिणयरदीवाइआहरणा ॥६॥

भावार्थ : इत्यादि (उपरोक्त) युक्तियों से मूढ जीवोमें चक्रवर्ती समान महामूढ वस्तु के स्वभाव को नहीं जानता। (यहां वस्तुके भिन्न-भिन्न स्वभाव को जानने के लिए) सूर्य-दीपकका उदाहरण है।

टीकामें उपरोक्त गाथा के तात्पर्य को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि, अंधकार का नाश करने में समर्थ सूर्य घर के तलघरमें प्रकाश नहीं फैला सकता। घर के तलघर को प्रकाशित करने के लिए दीपक ही समर्थ हो सकता है। अर्थात् सामर्थ्य से जो अधिक हो वह सभी स्थलों पर सभी कार्य करनेमें समर्थ हो, ऐसा कोई नियम नहीं है। इसलिए सूर्यदीपक के उदाहरण से सिद्ध होता है

कि, जो कार्य करने के लिए श्रुतदेवता समर्थ हो, वह कार्य करने के लिए श्री अरिहंत (श्रीतीर्थंकर) परमात्मा समर्थ ही हो, ऐसा नियम देखने को नहीं मिलता । क्योंकि, वस्तु के भिन्न-भिन्न स्वभाव होते हैं। इसी कारण श्री गौतम महाराजा से प्रतिबोध प्राप्त किसान श्रीमहावीर परमात्मा के दर्शन से सम्यग्दर्शन आदि गंवाकर संसारमें भटकते हैं और यह बात आगमसिद्ध है। **इसलिए जो कार्य करने के लिए जो व्यक्ति समर्थ हो, वह कार्य उसी व्यक्ति से ही होता है, दूसरे से नहीं होता । इसमें दूसरी अपेक्षा से भले ही दूसरा व्यक्ति काफी समर्थ हो तो भी उससे कार्य नहीं ही होता । इस प्रकार कलिकाल सर्वज्ञ पूज्यपाद आ.भ.श्री हेमचंद्रसूरिजी ने प्रवचन की प्रभावना की शक्ति प्राप्त करने के उद्देश्य से सरस्वती देवी की आराधना की थी । शास्त्रकार परमर्षियोंने इसे भी नोट किया है।**

प्रश्न : श्रुतदेवता की 'आमूला-लोल-धूली' इन (चतुर्थ) स्तुति में श्रुतदेवी से भवविरह-मोक्ष मांगा गया है। यह योग्य है ? जिसके पास जो वस्तु हो वह उसके पास से ही मांगने में औचित्य है और वही वस्तु देने में ही वे समर्थ भी है। श्रुतदेवी के पास मोक्ष नहीं, तो फिर उनसे उपरोक्त स्तुतिमें मोक्ष की मांग की गई है, यह कैसे योग्य कही जा सकती है ?

उत्तर : जिसके पास जो हो, वही वस्तु वह दे सकता है, ऐसा कोई नियम नहीं । क्योंकि, ऐसे नियममें व्यभिचार है । (जिस नियम को आगम वचन तथा युक्ति का समर्थन मिलता हो, वह नियम ही अव्यभिचारी सिद्ध होता है और जिस नियम को आगम वचन तथा युक्ति का समर्थन न हो, वह नियम व्यभिचारी सिद्ध होता है।

प्रश्नकार द्वारा बताया गया नियम व्यभिचारी है । क्योंकि, श्री जिनेश्वर परमात्मा अपने पास श्रुतज्ञान न होने के बावजूद 'उप्पनेइ वा' आदि मातृकापद के प्रदान से भावश्रुतरुप द्वादशांगी की भेंट पू.गणधर भगवंतो को देते हैं।

तथा श्री गौतम महाराजा अपने पास केवलज्ञान न होने के बावजूद अपने शिष्यों को (निमित्त कारण बनकर) केवलज्ञान देते हैं।

इस प्रकार श्रुतदेवता के पास भवविरह न होने के बावजूद भी वस्तु का उस प्रकार का स्वभाव होने से मोक्ष के कारणभूत ज्ञानादि को देकर मोक्षदाता भी बनते ही हैं।

श्रुतदेवता स्वयं को उद्देशित करके साधना करनेवाले साधक को निमित्त बनकर ज्ञान, दर्शन व चारित्र देते हैं, ऐसा शास्त्रोंमें अनेक जगह उल्लेख देखने को मिलता है। अर्थात् श्रुतदेवता ज्ञानादि प्रदान करते हैं। ज्ञानादि मोक्षांग है। मोक्ष तथा मोक्षांग के बीच कार्य-कारणभाव है। इसलिए कारणमें कार्य के उपचार से श्रुतदेवता मोक्ष ही देते हैं। मोक्षांग का दान मोक्ष के लिए ही किया जाता है। इसलिए श्रुतदेवता मोक्ष देते हैं, ऐसा कहनेमें कोई दोष नहीं और इसीलिए श्रुतदेवता के पास भवविरह की मांग करना तनिक भी अयोग्य नहीं।

प्रश्न : आपकी उपरोक्त बात का आधार क्या है ?

उत्तर : प्रवचन परीक्षा ग्रंथमें गाथा-९ में प्रश्नकार की बात शंका स्वरुप प्रस्तुत की गई है और गाथा-१०की टीकामें शंका का समाधान किया गया है। जिज्ञासुओंसे वहां देखने की सिफारिश।

इसलिए जो कार्य करने में अरिहंत समर्थ न हों, वह कार्य श्री अरिहंत परमात्मा से कम सामार्थ्यवाले व्यक्ति भी कर सकते हैं।

आगमिक मतकी बातों की अशास्त्रीयता एवं युक्तिबाह्यता को प्रवचन परीक्षामें सातवें विश्राम में गाथा-१ से ३३ में विस्तारसे बताया गया है। सत्यप्रेमी वर्ग से अवलोकन करने की विशेष सिफारिश है। विस्तार भय से यहां उसकी विस्तृत चर्चा नहीं की है।

प्रवचन परीक्षा के ग्रंथकार ने अंतमें त्रिस्तुतिक मत को 'शास्त्रबाह्य' मत के रुपमें घोषित किया है। इतना ही नहीं, बल्कि पूनमिया तथा अंचल मत से भी अधिक शास्त्र-विरोधी मत के रुपमें घोषित किया है। (देखें

गाथा-३२) इसीलिए वर्तमानमें त्रिस्तुतिक मतके अनुयायी अपनी मान्यताओं को आगमिक मत से अलग रखने की कोशिश करते हैं । इस प्रकार का मत मुनिश्री जयानंदविजयजी के तीनों पुस्तकों में कई जगहों पर देखने को मिलता है।

यहां उल्लेखनीय बात यह है कि, त्रिस्तुतिक मत के अनुयायियों ने अपने मत के समर्थनमें व्यवहारभाष्य की 'तिन्निवा' गाथा एवं बृहद्कल्पभाष्य की 'निस्सकडम०' गाथा को प्रस्तुत किया है, उसी प्रकार आगमिक मतने अपने मतके समर्थन में ये गाथाएं कहीं भी प्रस्तुत नहीं की । पंचाशक ग्रंथ का पाठ भी कहीं प्रस्तुत नहीं किया । यह बात प्रवचन परीक्षा के सातवें विश्राम में देखी जा सकती है।

प्रवचन परीक्षा के सातवें विश्रामकी १ से ३२ गाथा एवं उसकी टीका में स्पष्ट देखने को मिलता है कि, आगमिक मतने मात्र युक्तियों से ही अपनी बात सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। परन्तु इसमें भी उन्हें बिल्कुल विफलता ही मिली है।

आगमिक मतकी इस विफलता को प्रत्यक्ष देखने के बाद हताश हुए वर्तमानकालीन त्रिस्तुतिक मत के अनुयायियों ने काफी पुरुषार्थ करके व्यवहारभाष्य-बृहत्कल्पभाष्य तथा पंचाशक आदि ग्रंथो के पाठ खोज निकाले हैं और आसपास के संदर्भो को देखे बिना स्वमत की पुष्टि के लिए जाहिर में तथा लिखितमें पेश कर दिए हैं । फिर भी उन्हें स्वमतकी शास्त्रीयता सिद्ध करने में सफलता नहीं मिली । पू.आत्मरामजी महाराजा आदिने पूर्वमें कहे अनुसार उनके मत की अशास्त्रीयताको लिखित में सिद्ध कर दिया है। इतनी चर्चा के बाद पाठक इस सत्य को अवश्य समझ सकेंगे।

हां, कुछ दृष्टिरागी वर्ग उनकी बातोंमें फंसा है - यह जैनशासन के लिए एक गहरी चिंता का विषय है।